मेवाड़ गौरव

मेवाड़ गौरव

लेखक

पं० हरिशङ्कर शर्मा

प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स,

आगरा ।

मूल्य १)

प्रकाशक
रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स,
आगरा ।

मुद्रक
सत्यव्रत शर्मा,
शान्ति प्रेस, आगरा ।

निवेदन

मेवाड़ का इतिहास भारत की वीरता का इतिहास है। मेवाड़ में ऐसे-ऐसे वीरशिरोमणि हो गये हैं, जिनकी कीर्ति-पताका विश्व में फहरा रही है। महाराणा प्रताप, महाराणा हम्मीर, महारानी पद्मिनी आदि के वीर-वर्णनों को पढ़ कर, निर्बल हृदयों में भी वीरता का संचार होने लगता है, सूखी नाड़ियों में उष्णोत्साह की रक्त-धारा उमड़ पड़ती है। महाराणा कुम्भा और राणा साँगा भी उसी वीर-भूमि मेवाड़ की विमल विभूति हैं, इन्होंने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए जो-जो कार्य किये उनकी कथा इस छोटी-सी पुस्तक में देने का प्रयत्न किया गया है। आशा है, इससे विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा और वे प्राचीन भारत के अतीत गौरव का कुछ-कुछ अनुमान कर सकेंगे। पूज्य पुरुषाओं के सुकार्य-कलाप का जितना ही अधिक अध्ययन किया जाय उतना ही वह लाभदायक और शिक्षाप्रद सिद्ध होता है। यदि यह पुस्तक पाठकों के हृदयों में देश और जाति का गौरव बढ़ाने के लिए कुछ भी सहायता कर सकी तो लेखक अपना श्रम सफल समझेगा।

आगरा,
वसन्त पंचमी
१९८९

हरिशङ्कर शर्मा

महाराणा कुम्भा

मेवाड़-राजवंश

मेवाड़ के वीर क्षत्रियों ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। जब तक जगत् में वीरता का यशोगान होता है, तब तक मेवाड़ के महाराणाओं की विश्व-विश्रुत विमल कीर्ति को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। चित्तौड़ के महाराणा सूर्य-वंश से सम्बन्ध रखते हैं, वे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के वंशधर हैं। कहा जाता है कि इसी वंश में केशवादित्य नामक एक बड़ा प्रतापी पुरुष होगया है। किसी-किसी का यह भी कथन है कि उक्त प्रतापी नरेश का नाम केशवादित्य नहीं बल्कि गोह या गुहादित्य था, जिसके आधार पर गोहलौत या गुहिलौत वंश-शाखा की सृष्टि हुई। कई इतिहास-वेत्ताओं ने यह भी लिखा है कि बाप्पारावल के पुत्र गुहिल से गुहिलौतों की उत्पत्ति हुई। इतिहास के देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राहपजी तक तो मेवाड़ के राजवंश की गुहिलौत संज्ञा रही और इसके बाद वह सीसौदिया कहलाया।

जाने लगा। सीसौदिया नाम पड़ने का कारण राहपजी का सीसोदा ग्राम में रहना बताया जाता है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि किसी समय राहपजी ने भूल से मदिरा-पान कर लिया था, जिसके प्रायश्चित्त स्वरूप उन्हें पिघला हुआ सीसा पीकर प्राण-विसर्जन करना पड़ा। सीसा पीकर जीवन-लीला समाप्त करने के कारण ही राहपजी की सन्तान सीसौदिया कहलाई। मेवाड़ के सूर्यवंशी महाराणाओं के गोहलौत और सीसौदिया कहे जाने का कारण कुछ भी हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि वे इस वंश-शाखा के नाम से प्रख्यात हुए। पहले चित्तौड़ के राजाओं की पदवी 'रावल' थी, परन्तु राहपजी के समय से ही वे 'राणा' या 'महाराणा' की उपाधि से विभूषित किये जाने लगे। गोहलौत परिवार के महाराणाओं ने मेवाड़ में लगातार चौदह सौ वर्षों तक राज्य किया। इस अवधि के भीतर इस वंश में ऐसे-ऐसे शक्ति-सम्पन्न और प्रतापी प्रजेश हुए, जिन्होंने मेवाड़ ही नहीं प्रत्युत राजपूताना-भर को संसार में प्रसिद्ध कर दिया। हम्मीर, कुम्भा, साँगा, प्रताप, राजसिंह आदि सूर्य-कुल-कमल-दिवाकर महाराणाओं की विश्व-विश्रुत कीर्ति से कौन परिचित नहीं है। प्राचीन क्षत्रिय वीर अपने धर्म को प्रधानता देते हुए ही शासन सम्बन्धी सब कार्य करते थे। वे अधर्म की लड़ाई लड़ना न जानते थे, उनके हृदयों में स्वदेश-भक्ति की अग्नि सदैव धधकती रहती थी। वे आर्य-संस्कृति और आर्यजाति के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देना एक साधारण-सी बात

समझते थे। ऐसे स्वनामधन्य वीरवरों की चारु चर्चा आज सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, भारतवासियों के लिए अभिमान का कारण बनी हुई है। वह नवयुवकों के लिए आदर्श और देश-भक्तों के लिए धरोहर के रूप में आज भी सुरक्षित है, और आगे भी रहेगी।

मेवाड़-राजवंश में महाराणा क्षेत्रसिंह, महाराणा लाखा (लक्ष्यसिंह) और महाराणा मोकल बड़े प्रतापी नरेश हो गये हैं। इन्होंने अपने बल-वीर्य द्वारा शत्रुओं को जिस प्रकार पराजित और वशीभूत किया, वह साधारण घटना नहीं है। मेवाड़ पर यवन शत्रुओं की बड़ी क्रूर-दृष्टि थी, वे क्षण-भर के लिए भी वहाँ राजपूतों की सत्ता देखने को तय्यार न थे। मुग़लों ने कई बार संगठित हो कर राजपूतों पर आक्रमण किया, परन्तु उन्हें विशेष सफलता प्राप्त न हुई। जिस समय महाराणा हम्मीरसिंह के पुत्र क्षेत्रसिंह ने मेवाड़ का राजमुकट धारण किया, उस समय बड़ी प्रतिकूल परिस्थिति थी। मुसलमान लोग समझते थे कि वीर हम्मीर के स्वर्गवासी हो जाने से मेवाड़ का मार्ग निष्कण्टक होगया है। उसके पुत्र क्षेत्रसिंह में अपने पिताकी-सी न वीरता है और न बुद्धिमत्ता। ऐसी दशा में उसे अनायास ही परास्त कर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है। यवन शत्रुओं ने अपनी इस भ्रान्त धारणा के कारण, फ़ीरोज़ुद्दीन नामक सर्दार की अध्यक्षता में संगठित होकर, मेवाड़ पर आक्रमण किया और वे भयङ्कर हर्षनाद करते हुए आगे बढ़े।

ज्योंही चेत्रसिंह ने इस चढ़ाई का समाचार सुना, त्योंही वह अपनी तथा अपने-मित्र नरेशों का असीम सेना सहित यवन-दल पर पिल पड़े और बाकरोल नामक स्थान में उसे बुरी तरह घेर लिया। महाराणा चेत्रसिंह को निर्भयसिंह के समान नेतृत्व करते देख कर राजपूतों के हृदय उछलने लगे, उनके उष्ण रक्त में जोश का तूफ़ान आ गया और वे मुसलमान सिपाहियों को गाजर-मूली की तरह काटने लगे। राजपूतों की वीरता के कारण शत्रु-दल में भगदड़ मच गया और वह उलटे पाँव देहली की ओर भाग निकला। राजपूत सेना भी पीछे-पीछे दौड़ी और उसे खदेड़ती हुई देहली तक ले गई। बहुत-से मुसलमान सैनिक तो युद्ध में ही प्राण त्याग कर यमलोक सिधार गये। कुछ रास्ते में समाप्त हुए और जो थोड़े से बच रहे, उन्हें वीर राजपूतों ने देहली के फाटक में घुसाकर दम लिया। इस प्रकार राणा चेत्रसिंह ने देहलीश्वर पर विजय प्राप्तकर, अपने पिता हम्मीरसिंह का राज्य सुरक्षित ही नहीं रक्खा, बल्कि उसमें वृद्धि भी की। उन्होंने पठानों से अजमेर तथा जहाजपुर जीता और माँडलगढ़, मन्दसौर तथा चपण को भी फिर मेवाड़ में मिला लिया। इतना ही नहीं, इस वीरवर ने एक लड़ाई में गुजरात के बादशाह ज़फ़रखाँ को जीत, उसे अपने यहाँ बन्दी बनाकर रक्खा। राणा चेत्रसिंह ने अमीशाह को मारा तथा और भी कितने ही शासकों को पददलित कर उन्हें अपने वशीभूत किया। बाकरोल के युद्ध में विजय प्राप्त कर चेत्रसिंह चित्तौड़ वापस आये। इस समय मुसलमानों पर उनका बड़ा

आतङ्क छा गया था। जिधर देखो उधर ही उनकी वीरता की चर्चा सुनाई पड़ती थी। उस समय किसका साहस था जो राणा के विरुद्ध सर उठाता। राणा के बाहुबल द्वारा देश का बहुत हितसाधन होने की संभावना थी, परन्तु उनके जीवन ने साथ न दिया। १३८२ ई० में क्षेत्रसिंहजी मृत्यु को प्राप्त हुए। उन्होंने अपने शासन-काल में मेवाड़-रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया, उसकी प्रशंसा शत्रुओं को भी मुक्त-कण्ठ से करनी पड़ी।

महाराणा क्षेत्रसिंह के पश्चात् उनके पुत्र महाराणा लाखा या लक्ष्यसिंह ने मेवाड़ की राजगद्दी को सुशोभित किया। लाखाजी के समय में मेवाड़ की बहुत वृद्धि हुई, अर्थात् उसकी जन-संख्या भी बढ़ी और कला-कौशल को भी ख़ूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इनके समय में कई नवीन नगर बसाये गये। गढ़, भवन तथा जलाशयों का निर्माण हुआ, बाँध बाँधे गये, और भी न जाने क्या-क्या किया गया। राणा क्षेत्रसिंह के स्वर्गवासी हो जाने पर, शत्रुओं ने फिर सिर उठाया। अब की बार राजपूतों में भी फूट फैल गई, परन्तु राणा लक्ष्यसिंह ने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से सब का समाधान कर दिया, जिससे सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गई। मुसलमानों और पहाड़ी लुटेरों का भी जोश ठण्डा पड़ गया, यहाँ तक कि उनमें आगे बढ़ने की हिम्मत ही न रही। राणा लाखा शत्रुओं का मान-मर्दन करने में बड़े सिद्धहस्त थे। वे उन पर सिंह की तरह झपट कर विजयश्री छीन लाने का पूरा साहस और प्रबल पराक्रम रखते थे।

मेरवाड़ा के पहाड़ी लुटेरों का दमन करने में लाखाजी ने बड़ी चतुराई दिखाई। वे अपनी सैनिक शक्ति सहित इन जंगलियों पर टूट पड़े और उन्हें बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जब ये पहाड़ी लोग अपने मुख्य नगर बैराटगढ़ में जा छिपे तो सीसौदियाओं ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और वे सुरंग लगाकर, गढ़ को तोड़ते-फोड़ते हुए उसके भीतर जा पहुँचे। फिर क्या था? मेर लोगों का बध शुरू हो गया और उनकी सारी अकड़ मिट्टी में मिलने लगी। मेरों के साहस की कमर टूट गई और वे गिड़गिड़ा कर राणा लाखाजी की शरण में आ गये तथा अपने अस्त्र-शस्त्र उनके चरणों में रख कर अभयदान की प्रार्थना करने लगे। लाखाजी ने शरणागत पहाड़ियों को अभय-दान दे उनका बध बन्द कर दिया। फिर तो ये पहाड़ी लोग राणा की उदारता से ऐसे प्रभावित हुए कि सदा के लिए उनके सेवक और सहायक बन गये। जब-जब मेवाड़ पर किसी प्रकार का संकट उपस्थित होता, तब-तब भील लोग भी राजपूतों के साथ मरने-मारने को तैयार हो जाते थे। राणा लाखा ने पहाड़ियों के बैराटगढ़ को गिराकर उसके समीप बदनौर नामक एक नया नगर बसाया।

दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह लोदी की बड़ी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार मेवाड़ को जीत कर उसे दिल्ली में मिला लिया जाय। इसी उद्देश्य से उसने राणा लाखाजी पर चढ़ाई कर बदनौर घेर लिया। इस अवसर पर भी राजपूत सेना ने बड़ी वीरता से

लड़कर यवनों के मुँह फेर दिये। सीसौदियाओं ने मुसलमानों को देहली तक खदेड़ा और उनमें से कितनों ही के हथियार भी छीन लिए। इसके बाद मेवाड़ के सीसौदियाओं की शेखावाटी के सांखलों से लड़ाई हुई। दोनों ओर से लड़ने वाले राजपूत ही थे, अतएव अबकी बार कठिन संघर्ष रहा। सांखला वीर मुसलमान सेनाओं की तरह मैदान से भागे नहीं, वरन् वे युद्ध-भूमि में अन्त समय तक अड़े रहे। यद्यपि वे सीसौदियाओं से पराजित हुए, परन्तु उन्होंने युद्ध से पीठ दिखाना भयङ्कर अपराध समझा। बहु संख्यक साँखला वीर मेवाड़ी राजपूतों की तलवार से कट-कट कर वीरगति को प्राप्त हो गये, और जो थोड़े से बचे वे हथियार रखकर राणा लाखा की शरण में आगए। भीलों से जीते हुए जावर नामक प्रदेश में लोहे, चाँदी, ताँबा, सीसा, सुरमा तथा अन्य कई धातुओं की खानें लाखाजी को मिलीं, जिनसे बड़ा लाभ हुआ। इन खानों के कारण व्यापार चमक उठा और राजकोष धन से भरपूर रहने लगा। ऐसी सुख-सम्पन्न अवस्था में राणाजी ने गढ़, भवन, जलाशय तथा देव-मन्दिरों का निर्माण कराना प्रारम्भ किया। अत्याचारी अलाउद्दीन ने जिन मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, उनका जीर्णोद्धार कराया गया। राणा लाखा ने जो भवन बनवाए, उनमें कला को विशेष स्थान दिया गया, क्योंकि वह वीर-शिरोमणि होने के अतिरिक्त प्रसिद्ध कलाविद् भी थे। उन्होंने बरसाती पानी रोक कर उसका खेती के काम में उचित उपयोग करने के लिए बड़े-बड़े बाँधों की रचना

कराई। राणा ने मुसलमानों से त्रिस्थली तथा मेरों से वर्धन का क़िला छीन, दोनों अपने अधिकार में कर लिए।

आदर्श त्याग

राणा लाखा के कई पुत्रों में से सबसे बड़े चूँड़ावत को छोड़, शेष अपनी-अपनी जागीरें लेकर पृथक्-पृथक् रहने लगे थे। युवराज चूँड़ावत अपने पिताजी के साथ ही रहते और राज-काज में सहायता दिया करते थे। एक दिन मंडोर (मारवाड़) के राजगुरु युवराज के साथ अपने राव की कन्या (रणमल की बहन) का विवाह स्थिर करने के लिए टीके का सामान लाये। जब राजसभा में आकर गुरुजी ने राणा लाखा से अपने आने का प्रयोजन कहा, तो वृद्ध राणाजी अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर कर हँसी में कहने लगे कि क्या ऐसी सफ़ेद दाढ़ी वालों के लिए यह टीके का सामान नहीं है? राजगुरुजी राणा की बात सुनकर केवल मुस्करा दिये, उनकी बात का उत्तर कुछ नहीं दिया। इसके अनन्तर युवराज बुलाये गये। जो व्यक्ति युवराज चूँड़ावत को बुलाने के लिए भेजा गया था, उसने उनसे राणा के उपर्युक्त विनोद का वर्णन भी कर दिया। युवराज को ये सब बातें सुनकर बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने राजसभा में आकर राणा से बड़ी गम्भीर वाणी में प्रार्थना की—"पूज्य पिताजी, जिस राज-कन्या का पाणिग्रहण करने के लिए आपकी हँसी में भी इच्छा हुई है, उसके साथ मैं विवाह नहीं कर

सकता; अतएव यह सम्बन्ध आप ही स्वीकार कीजिए।" युवराज की ऐसी बातें सुन कर सारी राजसभा आश्चर्य-चकित होगई। स्वयं राणाजी युवराज को समझाने लगे—"पुत्र, मेरा यह आशय नहीं था, जो तुमने समझा है। यह टीका तुम्हारे लिए आया है, तुम इसे सप्रेम स्वीकार करो।" अन्य सब लोगों ने भी युवराज चूँड़ावत को बहुत समझाया, परन्तु वह उस कन्या के साथ विवाह करने के लिए उद्यत न हुए। अन्त में, मंडोर के रावसाहब का टीका वापस कर उन्हें अपमानित करना उचित न समझ, स्वयं लाखाजी ने उसे अपने लिए स्वीकार कर लिया। विवाह की स्वीकृति देने के पूर्व राणा ने युवराज से कहा—"पुत्र, तुम इस कन्या के साथ विवाह करना स्वीकार नहीं करते, तो मंडोर-नरेश का भेजा हुआ टीका वापस न कर मैं उसे स्वीकार किये लेता हूँ। पर इस बात को तुम अच्छी तरह विचार लो कि राव की वास्तविक इच्छा, अपनी पुत्री के पुत्र को मेवाड़ के राज-सिंहासन का अधिकारी बनाने की है। ऐसी दशा में तुमको इस गद्दी का स्वत्व छोड़कर प्रथम कोटि के जागीरदारों की भाँति अपना जीवन व्यतीत करना पड़ेगा।"

राणा की बात सुनकर सब दरबारी अवाक् रह गये और युवराज के उत्तर की बड़ी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। इस समय लोगों के हृदयों में संकल्प-विकल्पों का तूफ़ान उठ रहा था। स्वयं राणा को सन्देह था कि युवराज राजसिंहासन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए तैयार न होगा। पर बात

उल्टी ही हुई। युवराज चूँड़ावत ने बड़ी विनम्रता और गम्भीरता से एकलिंग भगवान् की शपथ पूर्वक निवेदन किया—"पूज्य पिताजी, मैं मेवाड़ के राजसिंहासन का सदा के लिए परित्याग करता हूँ। आप प्रसन्नता पूर्वक विवाह कीजिये, मुझे प्रथम दरजे के जागीरदारों की तरह ही रहना पसन्द है।" चूँड़ावत की ऐसी उदारता और दृढ़ता देखकर राजसभा में धन्य-धन्य की ध्वनि होने लगी और चारण लोग प्रशंसा-परक पद्य पढ़ने लगे। उधर जब मंडोर के राव ने यह संवाद सुना तो वह और उसका पुत्र रणमल दोनों ही अति सन्तुष्ट हुए। उन्हें इस नये सम्बन्ध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हुई। क्योंकि जो उन्हें अभीष्ट था, उसकी पूर्ति राणा लाखा प्रथम ही करा चुके थे—अर्थात् यह निर्णय हो चुका था कि मंडोर-राव की कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही मेवाड़ की गद्दी पर बैठेगा। राजपुत्री के साथ राणा लाखाजी का विवाह हुआ, और थोड़े ही दिन बाद राजकुमार मोकल ने जन्म ग्रहण किया।

अब राणा लाखा बहुत वृद्ध हो चुके थे, वह चाहते थे कि उनके जीवन में ही मोकल मेवाड़ की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया जाय। यद्यपि चूँड़ावत की ओर से सन्देह की कोई बात न थी, परन्तु फिर भी राणा इस तरफ़ से सर्वथा निश्चिन्त न थे। अन्त को उन्होंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् निश्चित किया कि इस वृद्धावस्था में राज-काज छोड़कर तीर्थ-सेवन करना चाहिए, और भगवद्भक्ति करते हुए वहीं प्राणोत्सर्ग करना ठीक है। राणा ने एक

दिन चूड़ावत से अपनी गया-यात्रा का भाव प्रकट करते हुए कहा—"पुत्र, मेरी हार्दिक इच्छा है कि गया जाने से पूर्व तुम्हें मेवाड़ राजगद्दी पर बिठादूँ और मोकल को जागीर देदूँ। बताओ तुम्हारी राय में मोकल को कौनसी जागीर देनी चाहिए।" चूँड़ाजी तो अपनी प्रतिज्ञा पर अटल थे, वे तिल-भर भी उससे विचलित होना न चाहते थे। उन्होंने अपने पिता के प्रश्न का तुरन्त उत्तर दिया—"पिताजी, मोकल को तो चित्तौड़ की राजगद्दी पर बिठाइये और मेरे लिए सलूंबर की जागीर प्रदान कीजिए। आप गया जाने से पहले ही मोकल का राजतिलक करादें तो अच्छा है।" चूँड़ा का ऐसा उत्तर—जिसकी कि उससे आशा की जारही थी—सुनकर राणा लाखा परम प्रसन्न हुए और शीघ्र ही मोकल का राज्याभिषेकोत्सव करा दिया। परन्तु पाँच वर्ष का मोकल मेवाड़ के शासन-भार को नहीं सम्हाल सकता था, अतएव राणाजी की आज्ञा से चूँड़ा ने ही उसके वयस्क होने तक मेवाड़ का भी सारा प्रबन्ध करना स्वीकार कर लिया।

जिस समय वृद्ध लाखाजी गया पहुँचे, उस समय वहाँ की अवस्था बड़ी शोचनीय होरही थी। चारों ओर मुसलमानों ने उपद्रव मचा रक्खा था। देव-मन्दिरों को विनष्ट करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था और वे लोग ब्राह्मणों को बलपूर्वक धर्म-भ्रष्ट कर रहे थे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। उस समय इन अत्याचारियों से गया की रक्षा करने के लिए कोई तैयार न होता था, सब अपने-अपने राज्य-प्रबन्ध में संलग्न थे। यद्यपि लाखाजी इस

समय इतने वृद्ध हो चुके थे कि उनके लिए रणक्षेत्र में आकर शत्रुओं से युद्ध करना कठिन कार्य था, फिर भी उनसे विधर्मियों द्वारा गया तीर्थ की ऐसी दुर्दशा न देखी गई। वे एक क्षण के लिए भी मन्दिरों और देवालयों के अपमान को न सह सकते थे। गौ और ब्राह्मणों पर प्रहार होते देखकर तो उनकी आँखों से ख़ून के आँसू बरसने लगते थे। राणा लाखा ने, अपने जीवन-प्रदीप की इस अन्तिम टिमटिमाहट में, फिर एक बार अस्त्र-शस्त्र सँभाले और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ तथा बुद्धि-बल द्वारा मुसलमान आततायियों को भगा कर गया का वायुमण्डल विशुद्ध कर दिया। लाखाजी ने अफ़ग़ानी आक्रमणकारियों से गया का तो उद्धार किया, परन्तु वे इस प्रयत्न में अपना जीवन दे बैठे। इस भीषण युद्ध में राणा के शरीर पर इतने गहरे घाव आए थे कि वे अच्छे न हो सके और उन्हींके कारण राणाजी को शरीर त्यागना पड़ा।

जब लाखाजी के देहावसान का दुःखद समाचार चित्तौड़ पहुँचा, तो वहाँ के सब लोग बड़े दुखी हुए। मोकल की माता ने राणा के साथ सती होने का विचार प्रकट किया, परन्तु वह चूँड़ाजी के आग्रह करने से सती न होने पाई। चूँड़ाजी ने कहा—"माताजी, आप सती होने का विचार बिल्कुल त्याग दें। मोकल अभी बालक है, आपको तो उसकी मंगल-कामना करनी चाहिये। यदि आप सती होगईं तो इस बच्चे की सुधि कौन लेगा।" रानी चूँड़ा के इस आश्वासन से बड़ी प्रसन्न हुई, उसे आशा न थी कि चूँड़ा ऐसे अवसर पर इस प्रकार की अकृत्रिम

हितैषिता का परिचय देगा। रानी ने उसी समय आज्ञा दी कि चूँड़ाजी को दरबार में सदैव सर्वोच्च स्थान दिया जाया करे और जब तक इनकी सही न हो जावे तब तक राणा (मोकल) द्वारा किसी दानपत्र की स्वीकृति न की जाय। प्रत्येक भूमि-दानपत्र पर राणा के हस्ताक्षर होने से पहले, चूँडाजी तथा उनके वंशजों के भाले का चिह्न रहा करे।

इस प्रकार मोकलजी अपने भाई चूँडाजी की सहायता से मेवाड़ में बड़ी सफलतापूर्वक शासन करते रहे। उन्होंने अपनी कुल-परम्परा का पूरी तरह से पालन करते हुए, रायपुर के रण-क्षेत्र में देहली के बादशाह मुहम्मद तुग़लक़ को पराजित किया, तथा शत्रुओं से साँभर प्रदेश भी जीत लिया। इतना ही नहीं, मोकल ने नागौड़-सुलतान फ़ीरोजख़ाँ को भी ख़ूब छकाया। वह ऐसी बुरी तरह हारा कि फिर कभी मेवाड़ की तरफ़ झाँका भी नहीं। एक बार मोकल ने माँडू-सुलतान मुहम्मद ग़जनीख़ाँ के हाथियों का संहार करके, उसे भी दूर तक खदेड़ा था। उन्होंने चित्तौड़ के समाधीश्वर नामक मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और पापमोचन तीर्थ पर एक सुन्दर सरोवर भी बनवाया।

भयङ्कर विश्वासघात

मोकल के प्राणोत्सर्ग की कथा बड़ी विषादपूर्ण और विचित्र है। उसका बध उसके दो काकाओं ने किया। ये दोनों काका

राणा क्षेत्रसिंह के अनौरस पुत्र चाचा और मेरा नामक थे। इनकी उत्पत्ति एक ख़ूबसूरत खातिन दासी के गर्भ से हुई थी। राणा लोग इन दोनों के ऊपर बड़ा हित करते थे। दरबार में उनकी बैठक दूसरे दरजे के सर्दारों से नीचे थी। राणा मोकलजी ने उन्हें सातसौ सवारों की सर्दारी भी देदी थी और वे प्रायः राणाजी के साथ ही रहते थे। अपने दोनों काकाओं पर राणा मोकल का ऐसा अनुग्रह देख, कुछ सर्दार उनसे आन्तरिक द्वेष रखने लगे। उनके हृदय में डाह की अग्नि धधक उठी और वे इस घात में रहने लगे कि किसी प्रकार 'चाचा और 'मेरा' को मोकल द्वारा अपमानित कराया जाय, जिससे वे उसके प्राणों के ग्राहक बन जायँ। दैवयोग से ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो गया। एक दिन राणाजी उपर्युक्त दोनों काकाओं तथा अन्य सर्दारों के साथ मदारिया नामक स्थान में घने वृक्षों के नीचे बैठे थे, इतने ही में कौतुकवश मोकलजी ने एक चौहान सर्दार से किसी वृक्ष का नाम पूछा। चौहान सर्दार ने वृक्ष के सम्बन्ध में अपनी अज्ञता दिखाकर राणाजी के कान में कह दिया कि मैं तो आपके प्रश्न का उत्तर नहीं देसकता, आप यह सवाल अपने काकाओं से पूछें, वे ठीक-ठीक जवाब दे देंगे। राणाजी सर्दार का वास्तविक भाव न समझ उसके कथनानुसार सहसा पूछने लगे—"काकाजी, इस वृक्ष का क्या नाम है।" काका इस सवाल को सुनकर एक दम आग बबूला हो गये। उन्होंने समझा कि हमारी उत्पत्ति खातिन (बढ़इन) के पेट से होने के

कारण हमारा उपहास करनें के लिए ही यह प्रश्न पूछा जा रहा है। नहीं तो कोई कारण न था कि वृद्ध सम्बन्धी बात पूछने के लिए, हमें विशेष रूप से सम्बोधित किया जाता। दोनों भाइयों ने उस समय यह न सोचा कि राणा तो निर्दोष है, उसने किसी दुर्भाव से वह प्रश्न उनसे नहीं पूछा। फिर क्या था, दोनों काका मोकलजी से आन्तरिक द्वेष रख उसे इस उपहास का स्वाद चखाने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने लगे।

सात पुत्रों के अतिरिक्त मोकलजी की लालबाई नामक एक कन्या भी थी। इस राजकुमारी का सम्बन्ध गागरोन के खीची राजा अचलसिंह के साथ हुआ था। विवाह के उपलक्ष्य में अचलसिंह ने राणा से प्रार्थना की थी कि मैं आपसे इस समय यह वचन चाहता हूँ, कि जब कभी मेरी राजधानी पर संकट उपस्थित हो या कोई शत्रु आक्रमण करे, तो उस समय आप मेरी सहायता करें। राणा ने अपने जामाता की यह बात स्वीकार कर उसे आवश्यकता पड़ने पर सहायता करने का वचन दे दिया। थोड़े दिनों बाद मालवा के होशंग ने गागरोन पर चढ़ाई की, तो अचलसिंह ने अपने पुत्र धीरजसिंह को राणाजी की सेवा में सहायता माँगने के लिए भेजा। मोकलजी आक्रमण की सूचना पाते ही अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार तुरन्त गागरोन के लिए रवाना हुए। मार्ग में ईडर नरेश साँवलदास भी उनके साथ हो लिए तथा चाचा और मेरा आदि अन्य छोटे-मोटे सर्दार भी राणाजी के साथ मिलते गये। साँवलदास की चाचा से बड़ी घनिष्ठता थी

उसने बातों ही बातों में ताड़ लिया कि चाचा और मेरा मोकल के प्राण लेने का षड्यन्त्र रच कर अपने उस अपमान का बदला लेने की ताक में हैं। साँवलदास ने सारा हाल मोकल को भी बता दिया, परन्तु उन पर इन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह ये सब बातें सुनकर केवल मुस्करा दिये। एक रात को जब जंगल में पड़ाव पड़ा हुआ था, विश्वासघाती काकाओं ने छोटी-सी सेना लेकर अचानक राणा के तम्बू पर आक्रमण किया। राणा के शरीर-रक्षकों ने राजपरिवार को बचाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे उस सेना के मुक़ाबिले में विशेष सफल न हो सके। महाराणा, रानी तथा वीर द्वारपालों ने स्वयम् भी आत्म-रक्षा के लिए बड़ी वीरतापूर्वक उद्योग किया, परन्तु अन्त में सब को उन हत्यारों के खड्ग का शिकार बनना ही पड़ा। इस युद्ध में दोनों ओर के कितने ही वीर मारे गये। साँवलदास ने भी अपने मित्र राणा की सहायता करते हुए वीरगति प्राप्त की। बड़ी कठिनाई से राजकुमार कुम्भा के प्राणों की रक्षा हो सकी, यद्यपि चाचा और मेरा ने उसे भी नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया था। महाराणा मोकल और उनकी महारानी का अन्त कर विश्वासघाती काका चित्तौड़ पहुँचे और 'चाचा' को मेवाड़ का महाराणा घोषित कर अपनी विजय-दुन्दुभी बजाने लगे।

पाप का परिणाम

जब यह अशुभ संवाद मोकल के मामा राव रणमल ने सुना तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने उसी समय अपनी पगड़ी फेंक कर प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं मोकल के घातक विश्वास-घाती चाचा और मेरा का रक्तपान नहीं कर लूँगा, तब तक पगड़ी नहीं पहनूँगा और बराबर शोक-चिह्न धारण किए रहूँगा। रणमल ने उसी समय चित्तौड़ आकर वहाँ से चाचा और मेरा को मार भगाया। वे दोनों पहाड़ी की ओर भाग गए और वहाँ एक सुरक्षित क़िले में जा छिपे। रणमल कुम्भा को मेवाड़ की गद्दी पर बिठा कर, स्वयम् उन कुल-कलङ्क काकाओं की खोज में निकल पड़ा। उसे विश्वास घातियों के पहाड़ी स्थान का पता तो लग गया, परन्तु उस स्थान का मार्ग कण्टकाकीर्ण और विकट होने के कारण वह वहाँ पहुँच न सका।

इस गढ़ के पास ही भीलों की बस्ती थी, वे भील रणमल द्वारा अपने एक सर्दार का वध किए जाने के कारण उससे बड़े अप्रसन्न हो गये थे। इन भीलों की सहायता के बिना काकाओं के पहाड़ी दुर्ग में प्रविष्ट होना कठिन था, अतएव रणमल ने अपनी बुद्धि-चातुरी से भीलों को अनुकूल बनाया और उनसे प्रतिज्ञा कराई कि वे अब चाचा तथा मेरा को सहायता न देकर रणमल की मदद करेंगे। रणमल ने भीलों को किस प्रकार अपने अनुकूल किया यह घटना भी बड़ी शिक्षाप्रद और मनोरंजक है।

२

बात यह हुई कि जब रणमल पहाड़ी गढ़ में घुसने से निराश हो गया, तो वह अकेला उस भील सर्दार के घर पहुँचा, जिसका वह कुछ दिन पूर्व बध कर चुका था। मृत भील के लड़के बाहर गये हुए थे, घर में केवल उसकी विधवा स्त्री थी। रणमल ने उस विधवा को 'बहिन' कहकर सम्बोधन किया और अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी। भील-विधवा ने अपने पति की पुण्य-स्मृति में गहरी आह भरते हुए कहा—"भाई, तुमने मेरा अहित तो बहुत बड़ा किया है, परन्तु चूँकि तुम मेरे घर आए हो, इसलिए अब मैं तुम्हारी किसी प्रकार की हानि करना नहीं चाहती।" इतने ही में बुढ़िया ने अपने बेटों के आने की आहट सुन, रणमल को एक कोठरी में छिपा दिया। जब पाँचों लड़के साथ-साथ खाना खाने लगे तो उनकी माता ने पूछा—"पुत्रो, अगर तुम्हारे पिता का हत्यारा रणमल तुम्हारे घर आवे, तो तुम उसके साथ कैसा व्यवहार करोगे?" अभी बुढ़िया की बात समाप्त भी न हुई थी कि चट छोटा लड़का बोल उठा—"करेंगे क्या, एक ही खड्ग-प्रहार से उसके प्राण-पखेरुओं को बींध देंगे!" अपने छोटे भाई का उत्तेजनापूर्ण उपर्युक्त उत्तर सुन कर सबसे बड़ा भाई बोला—"नहीं, माताजी अगर रणमल हमारे घर आवे, तो हम उससे कुछ न कहेंगे।" उस भील-स्त्री ने अपने बड़े लड़के की उदारता को सराहते हुए कहा—"रणमल, बाहर आजाओ, मेरे बेटे तुम से मिलना चाहते हैं।" जब रणमल कोठरी से बाहर निकल आया, तो भील-कुमारों ने उसका स्वागत करते हुए, उसके आने का कारण

पूछा। रणमल ने उत्तर देते हुए कहा—"प्रियवर, मैं तुम्हारी माताजी को अपनी धर्म-बहिन बना चुका हूँ और उन से अपनी भूल के लिए मैंने क्षमा भी माँग ली है। आशा है तुम भी अब अपना पुराना विचार त्याग दोगे। आज मैं एक अत्यन्त आवश्यक काम से यहाँ आया हूँ। मैंने प्रतिज्ञा की है कि जब तक चाचा और मेरा को यमपुर न भेज दूँ, तब तक अन्न ग्रहण न करूँगा, परन्तु यह कार्य आप लोगों की सहायता के बिना नहीं हो सकता।" भील-युवकों ने राव रणमल की सब बातें बड़े ध्यानपूर्वक सुनीं और उसे उपर्युक्त दोनों विश्वासघातियों का संहार करने में सहायता देने का वचन दिया।

रणमल भीलों से सहायता का वचन लेकर अपनी छावनी में आया और वहाँ से काफ़ी फ़ौज लेकर उसने पहाड़ी दुर्ग पर चढ़ाई कर दी। रास्ते में एक सिंहनी उन पर हमला करने के लिए झपटी, परन्तु रणमल के पुत्र ने उसका एक ही प्रहार से काम तमाम कर दिया। राजपूत सेना ने भालों की सहायता से गढ़ घेर लिया। इस लड़ाई में कितने ही सैनिक मारे गये। कई बहादुर तो स्त्रियों का वेष धारण कर अपनी जान बचा दुर्ग से बाहर निकल गये। चाचा और मेरा अपनी प्राण-रक्षा के लिए बहुत छटपटाये, परन्तु कहाँ जाते, उनके विनाश के लिए तो सारा उद्योग ही किया गया था। अन्त में उन दोनों को अपनी करनी का फल भोगना पड़ा। लोगों ने बड़े आश्चर्य से देखा, क़िले में एक ओर चाचा के दो टुकड़े पड़े थे और उसके पास

ही मेरा की लाश भी धूलि-धूसरित होकर लुढ़क रही थी। रणमल ने क़िले की स्त्रियों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा, क्योंकि किसी के रनवास पर आक्रमण करना वह कायरतापूर्ण अपराध समझता था।

कुटिल कुचक्र

चूँड़ाजी निःस्वार्थ भाव से मेवाड़ का शाशन-प्रबन्ध कर रहे थे। वे अपने पिता की मौजूदगी में ही प्रतिज्ञा कर चुके थे कि जब तक मोकलजी वयस्क होकर स्वयम् शासन करने योग्य न होजायँ, मैं बराबर उनकी सहायता करता रहूँगा। चूँड़ाजी की अद्भुत शासन-पटुता देख कुछ लोग मन ही मन उनसे बड़ी ईर्ष्या रखने लगे थे। ऐसे भाव रखने वालों में मंडोर के राठौर सबसे आगे थे। मंडोर के राव रणमल समझते थे कि मोकल हमारी बहिन का बेटा है, कहीं ऐसा न हो कि चूँड़ाजी अपनी इस प्रबन्ध-चातुरी और धूर्तता द्वारा, एक दिन मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार जमा ले। यदि ऐसा हुआ तो मोकल कहीं का न रहेगा। उसे एक साधारण जागीरदार की तरह अपना जीवन व्यतीत करना होगा। ये सब बातें सोचकर राव रणमल ने अपनी बहिन—अर्थात् मोकल की माता के हृदय में चूँड़ाजी के विरुद्ध भद्दे भाव भरने शुरू किये, और उसके दिल में भाँति-भाँति के भय एवं सन्देह पैदाकर उसे चूँड़ाजी के विरुद्ध कर दिया।

मोकल की माता चूँड़ाजी के काम से बड़ी सन्तुष्ट थी, परन्तु स्वार्थियों को यह बात कैसे पसन्द आ सकती थी! राव रणमल अपने भानजे मोकल के प्रति, सद्भाव पूर्वक ऐसा प्रेम प्रकाशित करते तब तो कदाचित् कोई हानि न थी, परन्तु उनके हृदय में तो दुर्भाव भरा हुआ था। वे तो इस बनावटी प्रेम का प्रपंच दिखाकर मेवाड़ की गद्दी को स्वयम् हड़प जाना चाहते थे। उन्होंने चूँड़ा का कण्टक काट फेंकने के लिए ही रानी को बहका-फुसलाकर यह षड्यन्त्र रचा था।

राव रणमल मोकल की माता पर अपना प्रभाव डाल कर मंडोर चले गये। इधर रानी की बुद्धि ने पलटा खाया। भाई के बहकाने से वह चूँड़ाजी को मेवाड़-राज्य का प्रबल शत्रु समझने लगी और उसने सब लोगों से उनकी निन्दा करनी शुरू कर दी। जो आता उसी से रानी चूँड़ाजी के प्रबन्ध और व्यवहार की बुराई करती। रानी की इस बात पर सब लोगों को बड़ा आश्चर्य होता और वे बड़ी गम्भीरता से सोचने लगते कि हो न हो, दाल में कुछ काला है। जिस चूँड़ा ने मेवाड़ की ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर रक्खी है, जिस से राज्य-भर में कोई अप्रसन्न नहीं है, जिसने प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए कोई प्रयत्न उठा नहीं रक्खा, जो त्यागवीर अपने पिता की मौजूदगी में ही मोकल के लिए सर्वस्व त्याग चुका है, उसके सम्बन्ध में ऐसी मिथ्या धारणा कर बैठना अवश्य ही किसी गुप्त षड्यन्त्र का परिणाम है। कितने ही सर्दारों ने रानी को समझाया कि वह किसी के कहने-

सुनने में आकर कोई ऐसा काम न कर बैठे, जिसके लिए उसे पीछे पछताना पड़े। स्वार्थियों की बातों में आकर अपना अनर्थ आप करने वाले का सुधार असम्भव हो जाता है। लोगों ने बहुत कहा-सुना पर रानी की बुद्धि में परिवर्त्तन न हुआ और वह अपने भाई राव रणमल की बात को वेद-वाक्य के समान मानती रही।

धीरे-धीरे अपने प्रति मोकल की माता की अप्रसन्नता का संवाद चूड़ाजी के कानों तक भी पहुँचा। पहले तो उन्हें विश्वास न हुआ कि रानी अकारण ही उस पर किसी प्रकार का संदेह करेगी। परन्तु जब उन्हें लोगों के कथन की वास्तविकता का पता लग गया तो वह रानी की सेवा में उपस्थित होकर कहने लगे—"माताजी, पिताजी के आदेशानुसार मैंने अब तक भाई मोकल की सेवा-सहायता बड़े विशुद्ध मन से की है। अन्तर्यामी भगवान् जानता है कि इसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थ है तो यही कि कहीं मोकल अपनी अल्पवयस्कता के कारण, कोई ऐसा अनुचित कार्य न कर बैठे, जिससे प्राचीन पूज्य पुरुषाओं की पवित्र कीर्ति पर किसी प्रकार का धब्बा आ जाय। और इसके लिए जहाँ तक मुझसे बना है मैंने पूरा प्रयत्न किया है। पर अब मैंने सुना है, कि आप मुझ से अप्रसन्न हैं, और मेरे कर्त्तव्य-पालन में आपको अनेक त्रुटियाँ दिखाई दे रहीं हैं, जिनके कारण आप दुखी हैं। ऐसी दशा में मैं आपको अधिक अप्रसन्न नहीं करना चाहता। अब मेरी इच्छा है कि आप अपने राज्य की उचित

व्यवस्था कर लें। मैं तो आपका आज्ञाकारी पुत्र हूँ, मोकल मेरा छोटा भाई है। जब कभी आपको मेरी सेवा-सहायता की आवश्यकता होगी, मैं आपके संकेत मात्र से फिर उपस्थित हो जाऊँगा और अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर आपकी सेवा करूँगा।"

मोकल की माता पर चूँड़ाजी के उपर्युक्त स्पष्ट कथन का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और वह अपने हठ पर बराबर डटी रही। यहाँ तक कि मेवाड़ छोड़ते समय चूँड़ाजी से उसने धन्यवाद के दो शब्द कहना भी उचित न समझा। वह मूकवत् सब कुछ सुनती रही, और जब चूँड़ाजी अपना मन्तव्य प्रकट कर उसके पास से चले, तो उन्हें बिना किसी रोक-टोक या पूछ-गछ के चला जाने दिया। पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि मेवाड़ के सम्बन्ध में चूँड़ाजी का व्यक्तिगत कोई स्वार्थ न था। उन्हें रानी की अप्रसन्नता सहते हुए वहीं डटे रहने की क्या आवश्यकता थी। चूँड़ाजी चुने हुए दो सौ योद्धा लेकर मेवाड़ से चल दिये और माँडू के दरबार में पहुँचे। वे अपने प्रबन्ध-पाटव और प्रशंसनीय पराक्रम द्वारा इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कहीं उनका परिचय कराने की आवश्यकता नहीं थी। जो उनका नाम सुनता उसी के आगे त्याग और वीरता का अनुपम आदर्श उपस्थित हो जाता था। अस्तु, माँडू के बादशाह ने चूँड़ाजी को विशेष आदरभाव से अपने दरबार में रक्खा और उन्हें बड़ी जागीर देकर अपने राज्य का सबसे बड़ा सर्दार बनाया।

अनधिकार चेष्टा

मोकल के मामा राव रणमल ने मेवाड़ की कई प्रकार से प्रशंसनीय सेवा की थी, उसने मोकल के हत्यारे चाचा और मेरा नामक आततायियों का बध कर, उन्हें उनके क्रूर कर्म का उचित दण्ड दिया था। रणमल के और भी कई ऐसे काम थे, जिनके कारण उनकी अच्छी ख्याति हो गई थी। उन्हें अपनी इस बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से अति अधिक घमण्ड होगया और वे यह समझने लगे कि अब मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार कर लेना कुछ कठिन बात नहीं है। कुम्भाजी अभी बालक है, चूँड़ाजी मेवाड़ को छोड़ ही चुका है, ऐसी दशा में अब कोई बाधक दिखाई नहीं देता। प्रजा को क़ाबू में करने के लिए तो साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति ही सफल हो सकती है। यह सब बातें सोच कर रणमल ने मेवाड़ पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया और जितने छोटे-बड़े स्थान थे प्रायः उन सब पर राठौर-वीरों ही की नियुक्ति करदी। जिधर देखो उधर राठौर ही राठौर दिखाई देते थे, बेचारे सीसौदियाओं को कोई पूछता भी न था।

चूँड़ाजी के भाई राघवदेव को रणमल की यह अनधिकार चेष्टा बहुत बुरी लगी। राघवदेव अपने भाई के आज्ञानुसार बालक राणा कुम्भाजी की शासन-व्यवस्था में सहायता देने के लिए चित्तौड़ में रहते थे। ऐसी दशा में चित्तौड़ के राजसिंहासन पर किसी बाहरी व्यक्ति का हस्तक्षेप न देख सकना राघवजी के लिए स्वाभाविक था। वह चित्तौड़ की राज-सभा में

राठौरों का प्राधान्य देख, मन ही मन अप्रसन्न रहते और उनके किसी कार्य का समर्थन न करते थे। राघवदेव इन लोगों की अनधिकार चेष्टा को शान्ति पूर्वक देखते रहे। इसके विरुद्ध उन्होंने उस समय अपनी आवाज़ उठाना उचित न समझा। परन्तु उनके मन की बात छिपी कैसे रह सकती थी। रणमल तथा उसके अन्य राठौर सर्दारों को भली भाँति विदित हो गया कि चित्तौड़ का शासन-सूत्र उनके हाथ में लेने से राघवदेव प्रसन्न नहीं है। अतएव उन्होंने उन्नति के बाधक राघव को मार कर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने की ठानी। रणमल ने चित्तौड़-राज-सिंहासन के प्रति कितनी ही भक्ति क्यों न दिखाई हो, परन्तु इस समय उसका विचार उसे सदा के लिए अपने अधिकार में कर लेने का था। इसीलिए उसने राज्य के प्रायः सभी पदों पर अपने विश्वासपात्र राठौर सर्दारों को नियुक्त किया और वह सम्पूर्ण मेवाड़ पर शासन करने के विविध उपाय सोचने लगा। रणमल को इस समय राघव ही सबसे अधिक काँटे की तरह खटकता था, इसलिए पहले उसे ही नष्ट करने का षड्यन्त्र रचा गया। राणा ने राघवदेव के लिए एक सरोपा भेजा, परन्तु सरोपा के अँगरखे की बाहें सिली हुई थीं। राघवदेव ने यह सरोपा बड़े आदर से स्वीकार किया, पर ज्योंही उसने अँगरखा पहना त्योंही उसकी बाहें सिली हुई अस्तीनों में आकर उलझ गईं। शत्रुओं को अवसर मिल गया और ऐसी उलझन के समय—जब राघवजी बेकाबू-से हो रहे थे—रणमल के आदमियों ने उनके पेट में छुरा भोंक दिया, जिससे उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई!

राघवदेव बड़े चरित्रवान और वीर पुरुष थे। वे सौजन्य तथा साहस के लिए मेवाड़ में ख़ूब ख्याति लाभ कर चुके थे। राघवदेव के वध से राज्य भर को बड़ा दुःख हुआ। प्रत्येक सीसौदिया उनके लिए अश्रुपात करने लगा। इस हत्या-काण्ड से मेवाड़ में राठौरों के विरुद्ध घोर घृणा के भाव पैदा हो गये। सब लोग राघवदेव की दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए परम-पिता परमात्मा से प्रार्थना करने लगे। इस स्वर्गीय महापुरुष की पुण्य-स्मृति में मेवाड़ के वीर राजपूतों ने अनेक प्रकार से अपनी अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ भेंट कीं।

माँडू-सुलतान का मान-मर्दन

महाराणा मोकल के बध में जिन षड्यन्त्रियों का हाथ था, उनमें से कई मुख्य व्यक्ति तो अपनी करनी का फल चख कर यमपुर की यात्रा कर ही चुके थे। चाचा और मेरा को प्राणदण्ड दिये जाने की कथा घर-घर फैल गई थी। इससे सब प्रजा-जन सन्तोष का साँस लेकर बार-बार यही कहते थे—"अच्छा हुआ, नराधम हत्यारे मारे गये, महाराणा मोकल सदृश प्रजाप्रिय प्रजेश का बध करना कोई मामूली अपराध न था। उनके बधिकों को प्राणदण्ड की जो सजा दी गई वह साधारण ही कही जा सकती है।" चाचा और मेरा तो मर चुके थे परन्तु महपा नामक षड्यन्त्रकारी अभी महाराणा कुम्भा के क़ाबू में न आया था। इस हत्यारे को माँडू के बादशाह ने अपने यहाँ शरण दे रक्खी

थी, और वह सब प्रकार उसकी रक्षा तथा सहायता करने को भी तैयार रहता था। इसी माँडू-सुलतान के यहाँ, चित्तौड़ त्याग कर चूँड़ाजी ने भी आश्रय प्राप्त किया था। चूँड़ाजी तो अपनी पराक्रमशीलता के कारण माँडू के सर्वशिरोमणि जागीरदार समझे जाते थे। राणा कुम्भा को यह बात बिलकुल पसन्द न थी कि उनके पिता मोकल का हत्यारा माँडू-सुलतान की शरण में जा कर उसकी कृपा का पात्र बना रहे। मेवाड़ का राणा अपने लिए इससे अधिक अपमानजनक दूसरी बात न समझता था। उसने सुलतान के पास सन्देश भेजा कि वह अपराधी महपा को उसके सुपुर्द कर दे, अन्यथा युद्ध करने के लिए तय्यार हो जाय। क्योंकि महाराणा मोकल के हत्यारे को शरण-दान देकर सुलतान चित्तौड़ का हितैषी कभी नहीं कहा जा सकता। सुलतान महमूद ख़िलजी को दो कामों में से एक काम करने के लिए अवश्य तैयार हो जाना चाहिए। या तो उसे महपा को हमारे सुपुर्द करना होगा, अथवा लड़ाई के लिए मैदान में आना पड़ेगा दोनों में से एक काम किये बिना उसका पीछा नहीं छूट सकता।

सुलतान ख़िलजी को राणा कुम्भा का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। उसने बिना विचार किये ही अपनी अकड़ में उत्तर दे दिया कि शरणागत महपा महाराणा को नहीं सौंपा जा सकता। हम लोहा लेने को तैयार हैं। सुल्तान की इस घमण्ड-घोषणा से कुम्भाजी के क्रोध का ठिकाना न रहा, वे ऐसा दुरभिमानपूर्ण

उत्तर पाकर उत्तेजित हो गए, और उनके हृदय में अपने पूज्य पिताजी के घातक का घात करने के लिए आवेश की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। राणा कुम्भाजी अभी अल्पवयस्क थे अतएव उनकी सेना राय रणमल की अध्यक्षता में माँडू पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ी। उधर सुलतान भी अपनी बहुत बड़ी फ़ौज लेकर राणा की सेना से मुठभेड़ करने के लिए निकल आया। उस समय सुलतान ने अपने सर्वश्रेष्ठ सर्दार चूँड़ाजी से सेना का नेतृत्व करने को कहा, परन्तु चूँड़ाजी ने स्पष्ट कह दिया कि यदि रणमल कुम्भा की ओर से न लड़कर अपनी तरफ़ से युद्ध करने आया होता, तो मैं उसे तथा उसके अन्य राठौर साथियों को देख लेता। परन्तु वह तो इस समय मेवाड़ के महाराणा का पक्ष लेकर उन्हीं की सेना का संचालक बना हुआ है, ऐसी दशा में मेरा उसके विरुद्ध हथियार उठाना धर्म और नीति दोनों के प्रतिकूल है। मैं महाराणा के विरुद्ध कभी युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ऐसा समझ कर आप मुझे इस विषय में और कुछ आज्ञा न दीजिए। यह कह चूँड़ाजी माँडू छोड़कर अपनी जागीर सलूँबर को चले गये और इस प्रकार उन्होंने मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध करने से अपने को बचा लिया।

एक ओर सुलतान की बहुत बड़ी फ़ौज थी, दूसरी तरफ़ राणा की विशाल सेना डटी हुई थी। दोनों में चित्तौड़ और मन्दसौर के बीच घनघोर युद्ध हुआ। हज़ारों सैनिकों और सैकड़ों हाथियों के चीत्कार तथा चिंघाड़ से गगन गूँजने लगा।

प्रलयङ्कर खड्गप्रहार और भयङ्कर मार-काट के पश्चात् सुलतान की सेना अस्त-व्यस्त होकर इधर-उधर भागने लगी। जिन यवनों के सिर राजपूतों की तेज़ तलवारों से कट कर धरातल पर लुढ़कने से बच रहे थे, वे कायरों की भाँति जहाँ-तहाँ छिपकर प्राण बचाने लगे। सुलतान ख़िलजी पर तो रणमल का इतना आतङ्क स्थापित हो गया कि वह रण-भूमि से भाग कर सीधा माँडू के क़िले में जा छिपा। राजपूत सेना के लिए भी उक्त क़िले में पहुँचना कठिन काम न था। वह भी तुरन्त वहाँ पहुँच गई और उसने चारों ओर से क़िले को घेर लिया। जब सुलतान ने देखा कि अब इस विपत्ति-वज्रपात से त्राण पाना कठिन है, तो उसने महपा से कहा—"भाई, अब तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ जाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ हूँ।" ख़िलजी से ऐसा निराशा-पूर्ण कोरा उत्तर पाकर महपा के प्राण सूख गए और वह अवसर मिलते ही क़िले से कूद कर गुजरात की ओर भाग गया।

कुम्भाजी की सेना ने माँडू-गढ़ का मुख्य द्वार तोड़ कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। राणा ने सुलतान ख़िलजी को क़ैद कर लिया और उसके बहुत से सैनिकों को भी बन्दी बना लिया। माँडू-सुलतान की बची-खुची सेना का जिस तरफ़ मुँह उठा, वह उधर ही भागने लगी। उस समय उसका न कोई धीर धरैया था न बात का पुछैया। राणा कुम्भा मालवा के सुलतान तथा उसके बहुत-से सैनिकों को क़ैद कर चित्तौड़ चले आए। उन्होंने पराजित यवन-सेना पर और अधिक प्रहार करना उचित

न समझा। इस विजय की स्मृति में राणा ने चित्तौड़ में आकर विजय-स्तम्भ की स्थापना की। महमूद ख़िलजी छह महीने तक चित्तौड़ में रहा। ख़िलजी के साथ महाराणा का व्यवहार क़ैदियों का-सा नहीं, प्रत्युत एक आदरणीय अतिथि के समान था।

राणा ने ख़िलजी की सुख-सुविधाओं का सब प्रकार से उचित प्रबन्ध कर दिया था। सुल्तान के साथी सैनिक भी स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरते थे। उनके साथ क़ैदियों का-सा कुछ भी बर्त्ताव नहीं किया जाता था। राजपूत लोग अपने अधिकार में आये हुए असहायों का अपमान करना या उन्हें सताना अनुचित समझते थे। निर्बल और निरस्त्र व्यक्तियों पर बल-प्रयोग करना क्षत्रिय वीरों ने सीखा ही न था। वे शूर थे पर क्रूर नहीं, उनमें पराक्रम था, निर्दयता न थी। वे अधिकार के लिए लड़ते थे, पर व्यक्तिगत वैर निकालने के लिए तलवार न उठाते थे। अपने इसी स्वाभाविक गुण के कारण राणा महमूद ख़िलजी को अपना शत्रु न समझते थे; बल्कि उसके साथ उदारता का व्यवहार करते थे। यवनसैनिक भी राणा कुम्भा के उदारता-पूर्ण व्यवहार के कारण हृदय से उनके भक्त बन गये थे। सुलतान के हृदय पर भी राणा की शिष्टता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह भी सब वैर-भाव भूल कर उनका मित्र बन गया। इस प्रकार कुम्भाजी ने पशु-बल द्वारा ख़िलजी के शरीर को क़ैद नहीं किया, बल्कि प्रेम तथा सहानुभूति के प्रभाव से उसके आत्मा को जीत लिया।

दिल्लीश्वर का दमन

माँडू के युद्ध से लौट कर अभी राणाजी पूर्णतया विश्राम भी न ले पाए थे, कि इतने ही में उन्हें दिल्ली की शाही फ़ौज द्वारा मेवाड़ पर चढ़ाई किये जाने की सूचना मिली। दिल्ली के बादशाह ने कदाचित् सोचा होगा, कि राणा अभी माँडू-सुलतान के साथ युद्ध कर चित्तौड़ वापस आया है; वह अभी उस युद्ध में क्षीण हुई शक्ति की पूर्ति न कर पाया होगा, उसके सैनिक भी थके और युद्ध से ऊबे हुए होंगे। दूसरे जिन लोगों से वह अभी सहायता ले चुका है, उन्हें अब तुरन्त ही दुबारा बुला भी न सकेगा। यदि बुलाया भी, तो वे लोग सहसा सहायतार्थ आवेंगे भी नहीं। ऐसी दशा में मेवाड़ को जीत लेना बड़ा ही सहज काम है। परन्तु बादशाह को यह पता न था कि मेवाड़ के वीर राजपूतों का इस समय अपनी जीत के कारण दूना उत्साह बढ़ा हुआ है और बाहर से सहायतार्थ बुलाई गई सब सेनाएँ अभी चित्तौड़ ही में ठहरी हुई हैं। दिल्लीपति के आक्रमण की सूचना पाकर राणा ने तुरन्त अपने वीर सैनिकों को मुसलमानी फ़ौज से मुक़ाबिला करने के लिए तैयार कर दिया। लड़ाई का डंका बजते ही वीर-राजपूतों के हृदय बल्लियों उछलने लगे। जब राजपूत-सेना युद्ध के लिए तैयार होकर कूच करने लगी, तो माँडू-सुलतान और उसके सैनिकों ने भी राणा के साथ चलने की इच्छा प्रकट की। वे लोग राणा के उपकार-भार से इतने

दबे हुए थे कि उसका बदला चुकाने के लोभ को न रोक सके। राणा ने भी जब महमूद खिलजी की अच्छे प्रकार जाँच करली, और उसे विश्वास होगया कि अब वह हमारे साथ दग़ा नहीं करेगा, तो उसे भी ससैन्य युद्ध में चलने की आज्ञा दे दी। पर साथ ही अपने प्रधान सेनानायकों को प्रतिक्षण उन पर कड़ी निगाह रखने के लिए आदेश और संकेत भी कर दिया।

मालवा की यवन-सेना का सहयोग पाकर मेवाड़ की शक्ति और भी बढ़ गई। राणा बड़े उत्साह से अपनी फ़ौज लेकर दिल्ली की ओर चल पड़े। झूँझनूँ के मैदान में दिल्ली की शाही फ़ौज से उनकी मुठभेड़ हुई। भयंकर संग्राम होने लगा। दोनों ओर की सेनाएं बड़े साहस और उत्साह से लड़ने लगीं। थोड़ी ही देर में युद्ध-भूमि लाशों से ढक गई; रुधिर के पनाले बहने लगे, वीर योद्धा बड़ी फुर्ती से तलवार घुमाते हुए शत्रुओं को काटने लगे। जहाँ-तहाँ राजपूतों के मुण्ड-विहीन रुण्ड भी तलवार चलाते हुए दिखाई देते थे। कटे हुए शिर भी मारो-मारो पुकार रहे थे। वीरों के शरीर शत्रुओं की तलवारों से क्षत-विक्षत हो गये, उनके घावों से बहती हुई उत्तप्त रुधिर-धाराएँ पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगीं। राजपूतों के अंग-प्रत्यंग कट जाने पर भी वे युद्ध से हटने का नाम न लेते थे।

इस प्रकार भीषण मार-काट हो ही रही थी कि दिल्ली के यवन सैनिकों ने "या अली" के नारे लगाते हुए एक दम

राजपूतों पर धावा बोल दिया। इस आक्रमण से मेवाड़ी सेना की हरावल टूट गई और वह विचलित हो उठी। यह देख एक ओर लड़ते हुए माँडू-सुलतान ने अपनी सेना सहित आगे बढ़कर दिल्ली की फ़ौज को रोका। उस समय यदि महमूद ख़िलजी इस वीरता से आगे बढ़ अपने प्रति किये गए राणा के अहसानों का बदला न चुकाता तो बहुत सम्भव था, राणा की सेना के पैर उखड़ जाते। उस समय मालवी यवन-दल ऐसी वीरता से लड़ा कि उसने शाही सेना के छक्के छुड़ा दिए। कहाँ तो मुसलमानों की सेना राजपूतों को मारती-काटती आगे बढ़ रही थी, और कहाँ अब उसे अपने ही प्राणों के लाले पड़ गए। सुलतान ख़िलजी को इस वीरता से लड़ते देख, दूसरी ओर से राणाजी भी उसके सहायतार्थ पहुँच गए। फिर क्या था, दिल्ली की यवन-सेना पीछे हटने लगी। विधर्मी माण्डू-सुलतान को मेवाड़ के लिए अपने सहधर्मी यवनों से इस प्रकार भीषण संग्राम करते देख, राजपूतों का उत्साह और भी बढ़ गया। वे एकलिंग भगवान् की जय का गंभीर घोष करते हुए यवन-सेना पर पिल पड़े। मारना या मर कर स्वर्ग जाना यही उनका उद्देश्य था, फिर भला उन्हें सफलता क्यों न मिलती। थोड़ी ही देर में बादशाह की आधी से अधिक फ़ौज राजपूतों ने काट डाली। मेवाड़ी वीरों के इन भयंकर हमलों से बादशाह की हिम्मत टूट गई और वह मैदान छोड़कर भाग गया। बादशाह के हटते ही उसकी सेना में भी हलचल मच गई। वीर राजपूत यवन-सेना को खदेड़ते ही चले गए और

उसका पीछा करते हुए हिसार तक पहुँचे। इसी समय राणाजी की सेना ने हिसार का क़िला जीत कर उस पर भी अपना झंडा फहरा दिया। इसके अनन्तर महाराणा कुम्भा चित्तौड़ वापस आए।

राणाजी ने चित्तौड़ में पहुँच कर सब वीरों को एकत्र किया और उन सबके सामने मुक्तकण्ठ से वीर महमूद ख़िलजी की प्रशंसा करते हुए कहा—"वीरो, मेरी समझ में, हमारी इस विजय का अधिकांश श्रेय मालवाधीश्वर माँडू-सुलतान ही को है। जिस समय यवनों के आक्रमण से तुम लोगों के पाँव उखड़ गए थे, उस समय यदि ये आगे बढ़कर शत्रुओं से लोहा न लेते, या हमारा साथ छोड़ अपने सजातीयों में जा मिलते, तो न जाने हमारी क्या दशा होती। सुलतान ने अपने इस उदारता पूर्ण व्यवहार द्वारा, मेरे हृदय में अपने लिए विशेष स्थान कर लिया है। मैं इस समय इनकी सचाई और शूरता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता।" इसके अनन्तर राणाजी ने महमूद ख़िलजी को सरोपाव देकर बड़े आदर पूर्वक विदा किया।

महमूद ख़िलजी अपनी चतुराई और वीरता द्वारा महाराणा को प्रसन्न कर क़ैद से छुटकारा तो पा गया, परन्तु उस पर अपने पराजय की लज्जा बुरी तरह सवार होगई और वह कुम्भाजी को नीचा दिखाने के लिए भाँति-भाँति के षड्यन्त्र रचने लगा।

चूँड़ा का चातुर्य

अपनी जन्म-भूमि मेवाड़ में राठौरों का अनुचित आतङ्क देख कर, एक दिन कुछ सीसौदिया सर्दारों ने, राणा कुम्भाजी से

प्रार्थना की—"महाराज, राव रणमल, जो इस समय मेवाड़ के सब से बड़े शुभचिन्तक समझे जाते हैं, मेवाड़ को हड़पने की चेष्टा में हैं। उन्होंने मेवाड़ में सर्वत्र अपना अनुचित आतङ्क स्थापित कर रक्खा है, और जितने छोटे-बड़े पद हैं, सब ही पर राठौर नियुक्त कर दिए हैं। सीसौदिया वीरों को कोई बिलकुल नहीं पूछता। पूछना तो अलग रहा, उनका बुरी तरह से निरादर किया जाता है। अगर यह कुप्रवृत्ति इसी प्रकार बढ़ती गई और समय रहते इसका कुछ प्रबन्ध न किया गया, तो मेवाड़ में सीसौदियाओं का चिह्न भी शेष नहीं रहेगा, और वह राठौरों का राज्य बन जायगा।" पहले तो राणा ने सीसौदिया सर्दारों की बात पर विश्वास न किया, परन्तु जब राणा की धाय ने भी एक दिन यही बात दुहराई और राठौरों के दुर्व्यवहार तथा दुर्भाव के प्रति घृणा प्रकट की तो, राणा को कुछ-कुछ सन्देह होने लगा। उधर राजमाता भी राठौरों को शंका की दृष्टि से देखने लगीं। चूँड़ा के भाई राघवदेव के बध ने तो उनका यह सन्देह और भी दृढ़ कर दिया। इस समय मेवाड़-राजपरिवार राठौरों के दुर्भाव को भली-भाँति समझ गया। अब उसे यह बतलाने की आवश्यकता न रही कि चूँड़ाजी के बहिष्कार का वास्तविक कारण क्या था। राठौरों की उद्-ण्डता से खिन्न होकर राजमाता और कुम्भाजी दोनों, चूँड़ा का स्मरण करने लगे। उन्होंने यही निश्चय किया कि जिस प्रकार सम्भव हो, मेवाड़ के उसी सच्चे शुभचिन्तक और सहायक को

बुलाना चाहिए। कभी-कभी यह भी सन्देह हुआ कि जिस प्रकार चूँड़ाजी निकाले गये हैं, उसे स्मरण कर यदि उन्होंने मेवाड़ आना स्वीकार न किया तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। परन्तु साथ ही विश्वास था कि चूँड़ा मिथ्याभाषी नहीं है। उसने मेवाड़ से विदा होते हुए, आवश्यकता पड़ने पर फिर चित्तौड़ की सेवा-सहायता करने का वचन दिया था, ऐसी दशा में उसका आना सम्भव ही समझना चाहिये। राणा कुम्भाजी ने चूँड़ाजी के पास अपना गुप्तचर भेजा। उसने सारा संवाद उन्हें जा सुनाया। चूँड़ाजी तो पहले ही से इन सब घटनाओं को ध्यान पूर्वक देख रहे थे। उन्होंने दूत को आश्वासन देते हुए कहा कि घबराने की कोई बात नहीं, मैं मेवाड़ आता हूँ, और जो कुछ मेरी शक्ति में है, उसे मेवाड़-उद्धार के लिए उठा न रक्खूँगा।

इधर कुम्भाजी चूँड़ा के बुलाने का उद्योग कर रहे थे, उधर रणमल की दुष्प्रवृत्ति दिनों-दिन बढ़ती जाती थी। वह मेवाड़ की गद्दी का स्वयम्भू स्वामी बन कर अपने को सब का शिरोमणि समझने लगा था, उसका दुरभिमान दिनों-दिन बढ़ता जाता था, पाप वासनाएँ भी उसके हृदय में बुरी तरह बस रही थीं। नई प्रभुता पाकर राव की दृष्टि में सदाचार का कुछ विशेष मूल्य न रह गया था। यहाँ तक कि वह महारानी की भारमली नामक एक दासी पर आसक्त हो गया और उसके साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया। एक दिन इस दासी को महारानी

के महल में देर तक रहना पड़ा जिससे वह रणमल के पास कुछ विलम्ब से पहुँची, इस पर वह इस सेविका पर बुरी तरह झल्लाया, तथा देरी का कारण पूछा। दासी ने स्पष्ट कह दिया—"रावजी, मैं पराधीन हूँ, जब मुझे महलों की नौकरी से अवकाश मिल जाता है, तभी आपकी सेवा में उपस्थित हो जाती हूँ।" रणमल नशे में चूर हो रहा था, उसे दासी की यह खरी बात तीर की तरह लगी। वह आग बबूला होकर कहने लगा—"अच्छी बात है, भारमली, मैं बहुत जल्द तुझे दासता के बन्धन से छुड़ाए देता हूँ। फिर देखना, जिसे चित्तौड़ में रहना होगा, वह तेरा गुलाम बन कर रहेगा।" दासी ये सब बातें चुपचाप सुनती रही, दूसरे दिन जब वह महलों में पहुँची तो उसने महारानीजी से रणमल की सारी कुकर्म-कथा कह दी। धीरे-धीरे कुम्भाजी तक भी सारा वृत्तान्त पहुँच गया। रणमल की ऐसी कुचेष्टा देखकर राणा और रानी को बड़ा दुःख हुआ। वे निराश होकर कहने लगे कि चूँड़ाजी के आने पर ही राठौरों से मेवाड़ का पिण्ड छूट सकता है। अब तो इस वीर-भूमि का रक्षक सर्व शक्तिमान् भगवान् है, या वीर शिरोमणि चूँड़ाजी।

चूँड़ाजी को महारानी का गुप्त संदेश मिल ही चुका था, वह स्वयं भी अपनी जन्म-भूमि तथा बाप्पारावल की राजधानी को राठौरों के चंगुल से छुड़ाने के लिए बुरी तरह व्याकुल हो रहे थे, तथा रणमल की अनधिकार चेष्टा देखकर बहुत दुखी थे। राठौरों की नीचता के कारण उनकी आँखों

से .खून बरसता था, परन्तु वह करते तो क्या करते। जिस षड्यन्त्र द्वारा रानी ने चूँड़ाजी का बहिष्कार किया था, उसका स्मरण कर उनके हृदय में मेवाड़ आने की कभी इच्छा भी उत्पन्न न होती थी। परन्तु जब मेवाड़ की महारानी को अपनी भूल का पता चला और उसने चूँड़ाजी को ऐसे आड़े वक्त में स्मरण कर बुलाया, तो वह सब पुरानी बातों को भूल कर तुरन्त मेवाड़ की रक्षा के लिए आने को उद्यत हो गए। दूरदर्शी चूँड़ा ने प्रथम अपने साथी सर्दारों को, जो मेवाड़ से उसके साथ गये थे, कुटुम्बियों से मिलने के बहाने चित्तौड़ भेजा और उनसे समझाकर कह दिया कि अब वापस आने की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग चित्तौड़ ही में रह कर द्वारपालों की जगह नौकरी कर लेना। साथ ही महाराणा के पास यह सन्देश भी भेज दिया कि वे रोज़ क़िले से बाहर निकल कर,समीपवर्ती गाँवों में बसने वाली प्रजा को दावत दिया करें और दिवाली का दिन गसून्दा ग्राम के भोज के लिए निश्चित करें। उस दिन मैं वहाँ आजाऊँगा और उनके साथ ही चित्तौड़ चलूँगा। महाराणा ने चूँड़ाजी के आदेशानुसार ही सब काम करने प्रारम्भ कर दिये। वे नित्य गाँवों में जाते और दावत देकर वापस चले आते। उस समय राणा के साथ इने-गिने दस-बीस निजू सेवकों के अतिरिक्त और कोई न होता था।

धीरे-धीरे दिवाली का दिन भी आया, उस दिन गसून्दा गाँव में दावत देनी थी और वहीं चूँड़ाजी आने वाले थे। दावत

देदी गई, अँधेरा हो गया, परन्तु चूँड़ाजी न आये। अधिक विलम्ब होजाने से राणाजी, धाय, पुरोहित तथा अन्य लोगों के साथ निराश होकर चित्तौड़ चल पड़े। इतने ही में वीरवर चूँड़ा अपने चालीस शूरवीर साथियों सहित घोड़ों को सरपट दौड़ाते हुए आये, और गसून्दा से राणा के निराश होकर चले जाने की सूचना पाकर चित्तौड़ की ओर तेजी के साथ चल दिये। इस समय चूँड़ाजी वेश बदले हुए थे, अतः उन्हें पहचान सकना सहज न था। चूँड़ाजी जब चित्तौड़ में घुसने लगे तो एक दरवाजे पर द्वारपालों ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो, जो निधड़क बढ़े चले आ रहे हो?" चूँड़ाची ने बड़ी सतर्कता और वीरता से उत्तर दिया—"भाई हम समीपवर्ती जागीरदार हैं। आज राणा को बाहर से आने में देर हो गई थी, इसीलिए हम उन्हें पहुँचाने आये हैं।" द्वारपाल इस उत्तर से सन्तुष्ट हो गये और उन्हें इन लोगों के विरुद्ध कोई सन्देह शेष न रहा।

थोड़ी देर में चूँड़ाजी की सेना भी आगई और सब ने राठौरों पर आक्रमण कर दिया। अपने कुटुम्बियों से मिलने का बहाना बनाकर आये हुए दो सौ मेवाड़ी वीर भी चूँड़ाजी के संकेत पर मैदान में आ कूदे और बुरी तरह मार-काट शुरू कर दी? जहाँ जो राठौर मिला, वहीं उसका काम तमाम कर दिया गया। जब मेवाड़ की प्रजा को घटना की वास्तविकता विदित हुई और लोगों ने चूड़ाजी के आने का समाचार जाना, तो उनके शिथिल शरीरों में फिर से साहस की बिजली कड़कने लगी—मुरझाए मन

फिर आनन्द से उत्फुल्ल हो गये। सब अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर चूँड़ाजी की सेना में आ मिले और उनके आदेशानुसार राठौरों से मेवाड़ का पीछा छुड़ाने के लिए उद्योग करने लगे। चूँड़ाजी की चमचमाती हुई तलवार शत्रुओं के सिर पर बड़ी विलक्षणता से नाच रही थी। उसके एक-एक प्रहार में कितने ही सिर भुट्टे की तरह कट कर पृथ्वी पर पड़े दिखाई देते थे! सब से पहले चूँड़ाजी ने मुख्य द्वारपाल भाटी सर्दार का काम तमाम कर अपना आतङ्क स्थापित किया।

जब इस मार-काट का विवरण रणमल ने सुना तो उसके छक्के छूट गये! चूँड़ाजी के चित्तौड़-प्रवेश का समाचार पाकर उसकी सारी वीरता कायरता में बदल गई। इस समय राव को न तो मेवाड़ पर अपना आधिपत्य जमाने की चिन्ता थी, और न चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर सुशोभित होने की चाह। अब तो वह इस ताक में था कि जिस प्रकार सम्भव हो, अपने प्राण-पखेरुओं को उस प्रचण्ड पराक्रमी चूँड़ा के बाणों का लक्ष्य बनने से बचाया जाय। सबसे प्रथम राव ने अपने पुत्र जोधा और काँधल को दुर्ग की तलहटी में छिपने के लिए भेज दिया। साथ ही उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि तुम ख़ूब सतर्क रहना तथा किसी के बार-बार बुलाने पर भी इधर आने का इरादा न करना। इसके पश्चात् रणमल स्वयं रनवास में जाकर छिप गया। जब राणा कुम्भा चूँड़ाजी से मिले तो उन्होंने उनकी सहायता के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया और कहा—

"काका, अब तो यही निश्चय किया है कि मेवाड़ को राठौरों से सर्वथा शून्य कर दिया जाय। इन्होंने जैसी-जैसी अनधिकार चेष्टाएँ की हैं, और जो-जो अनुचित आतङ्क दिखाए हैं, उनका स्मरण मात्र भी बड़ा दुःखदाई है।" चूड़ाजी ने राणा को आश्वासन देते हुए कहा—"घबराने की कोई बात नहीं, बहुत शीघ्र सब व्यवस्था ठीक हुई जाती है।"

एक ओर तो चूँड़ाजी चित्तौड़ में भयङ्कर जन-संहार करते हुए राठौरों को चुन-चुन कर यमलोक पहुँचा रहे थे, दूसरी तरफ़ रणमल क़िले में छिपा शराब से उन्मत्त हो रहा था। इतने ही में वहाँ एक अद्‌भुत घटना घटी। रात्र रणमल मदिरापान कर जिस समय पागल होगये और उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही तो उनकी उस प्रेयसी (दासी) ने जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, एक बड़ी विचित्र बात की। दासी ने देखा कि अब तो राठौरों का सर्व-संहार होने में कोई संदेह ही नहीं रहा, ऐसी दशा में यदि यह नराधम रणमल, जिसने अपनी मदोन्मत्तता के कारण मेरा सतीत्व-रत्न अपहरण किया, तथा सारी प्रजा को घोर दुःख दिया है, बच कर निकल भागा तो बड़ी बुरी बात होगी। यह सोच कर उसने एक लम्बी पगड़ी से, पलँग पर मृतवत् पड़े हुए बेहोश रणमल को खूब जोर से कस दिया। थोड़ी देर बाद जब उसे चेत हुआ और आखें खुलीं तो उसने अपने को बड़ी विकट परिस्थिति में पाया।

बन्धनों से शरीर जकड़ा हुआ था, और चारों ओर शत्रु-दल घेरे खड़ा था।

ऐसी परिस्थिति में भी रणमल ने पड़े ही पड़े बड़े ज़ोर से झटका दिया, जिससे पगड़ी के बन्धन टूट गये और वह पलँग से उठ खड़ा हुआ। इधर-उधर देखा, परन्तु कोई हथियार दिखाई न दिया। कुछ न पाकर रणमल ने पास ही रक्खा पीतल का लोटा शत्रुओं के सिर पर दे मारा, जिससे कई आदमी घायल हो गये। थोड़ी देर तक खूब छीन-झपट और मार-धाड़ रही। अन्त में वृद्ध रणमल परास्त हो धराशायी हुए। रणमल का मरना था कि तलहटी में छिपे हुए उसके जोधा और काँधल नामक बेटों के होश उड़ गये और वे तुरन्त ही घोड़ों पर सवार होकर अपने साथियों समेत मारवाड़ के लिए भाग निकले।

चूँड़ा ने भागते हुए राठौरों का बड़ी वीरता से पीछा किया। जोधा से कई स्थानों पर टक्कर ली, परन्तु वह पकड़ में न आसका। इन लड़ाइयों में दोनों ओर के कितने ही सैनिक मारे गये। जोधा के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सरदारों में से तो प्रायः सब ही काम आ गये। कभी जोधा मारवाड़ की ओर भागता और कभी किसी दूसरे स्थान के लिए चल पड़ता। अन्त में वह इधर-उधर घूमता और प्राण बचाता हुआ, मारवाड़ पहुँच गया। परन्तु यहाँ भी चूँड़ा ने उसका पीछा किया, बेचारे का नाक में दम आगया और वह निराश तथा असहाय हो, चुपके

से एक गाँव में छिप गया, और यहाँ गुप्त रूप से रहकर बुरी तरह काल-यापन करने लगा।

इस समय मारवाड़ की ख़ाली गद्दी पर राणा कुम्भा की सेना ने अपना अधिकार कर लिया और सारे राज्य में अपने थाने क़ायम कर दिये। मंडोर (मारवाड़) का सूबेदार एक सीसौदिया नियुक्त किया गया। और भी कितने ही सर्दारों को इस विजय के उपलक्ष्य में जागीरें प्रदान की गईं। रणमल का भतीजा नरवर इस सारी मारवाड़ में मेवाड़-राज-सिंहासन का भक्त बना रहा, अतएव उसे पचास हजार रुपये साल की जागीर दी गई। एक लाख रुपये वार्षिक की जागीर महाराणा द्वारा उसे एक बार पहले भी दी जा चुकी थी। इस प्रकार १४४३ ई० में चूँड़ाजी के उद्योग द्वारा मेवाड़ का राठौरों से पीछा छूटा और उनका मारवाड़ महाराणा कुम्भा के अधिकार में आया।

संसार कैसा परिवर्त्तनशील है, बात की बात में घमण्डियों का घमण्ड-घट किस सफलता के साथ फोड़ा जा सकता है, इसका उदाहरण उक्त घटना से स्पष्ट मिल जाता है। जो राठौर किसी दिन मारवाड़ पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर फूले अङ्ग न समाते थे, आज वे दैव-दुर्विपाक से स्वयम् अपने मारवाड़ की भी रक्षा न कर सके! अपने घर को ी शत्रुओं के पंजे में पड़ने से न बचा सके!! इससे अधिक

बेबसी या बेकसी और क्या हो सकती है ! विधि की विडम्बना बड़ी विचित्र है। किसी ने ठीक कहा है—

'खाड़ खनें जो और को ताको कूप तयार'

अनुकरणीय उदारता

अपने पिता रणमल के मारे जाने से जोधा की बड़ी बुरी दशा थी। मारवाड़ की राजधानी मण्डोर पर भी महाराणा कुम्भा का अधिकार हो जाने से तो उसके संकट का ठिकाना ही न रहा। बेचारा बड़ी कठिनाई से इधर-उधर अपने प्राण बचाता फिरता था। परन्तु उसके हृदय में यह अभिलाषा अब भी बनी हुई थी कि किसी प्रकार सीसौदियाओं के पंजे से मारवाड़ का उद्धार अवश्य किया जाय। उसने अपनी इस इच्छा-पूर्ति के लिए प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया था। कई बार जोधा ने अपना संघटन कर मण्डोर पर आक्रमण किया, परन्तु वह बात की बात में, राणा की सेना द्वारा परास्त कर दिया गया। इस प्रयत्न में उसे बहुत हानि उठानी पड़ी; कितने ही आदमी मारे गये और बहुत से घोड़ों का भी काम तमाम हुआ। इतना होने पर भी जोधा का साहस कम नहीं हुआ, उसने बराबर अपना प्रयत्न जारी रक्खा।

एक दिन की बात है, जोधा मार-धाड़ करके कहीं से वापस आरहा था, इतने ही में रात होगई, और वह पासके गाँवमें जाकर एक जाट के घर ठहर गया। जाटनी ने जोधा को पहचाना नहीं, फिर भी उसने अतिथि-सत्कार में किसी प्रकार की कमी न की।

घर आये पाहुने का आदर करने के लिए हिन्दू सदा से प्रसिद्ध हैं। ग़रीब जाटनी ने अपने अतिथि के आगे एक थाली में दलिया पका कर रख दिया, और उससे उसे खाने की प्रार्थना की। दलिया ख़ूब गरम था, उसमें से धुआँ निकल रहा था, परन्तु जल्दी में जोधा ने उसे बीच में से खाना शुरू कर दिया। ज्योंही उसने दलिया में हाथ दिया कि उसकी उँगलियाँ जल गईं और वह 'सी-सी' करने लगा। यह देखकर जाटनी कहने लगी—"भाई, तुम तो जोधा की तरह बड़े बेसमझ मालूम देते हो।" जोधा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"बहन, जोधा को तुम बेसमझ क्यों कहती हो, उसने कौनसा नासमझी का काम किया है।" इसका उत्तर जाटनी ने बड़ी शान्ति से देते हुए कहा—"भाई, मैं जोधा को इसलिए मूर्ख कहती हूँ कि वह आस-पास के प्रदेशों को तो छोड़ देता है, और मंडोर पर बार-बार हमला करता है। भला जिस मंडोर के क़िले में, महाराणा की इतनी बड़ी सतर्क सेना रहती हो, उस पर आसानी से विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है। भाई, जिस तरह जोधा लड़ाई लड़ने में मूर्खता कर रहा है, उसी प्रकार तू भी दलिया खाने में समझदारी नहीं दिखा रहा। भला सोच तो सही कि इतने गरम दलिये को तू बीच में-से कैसे खा सकता है। भले आदमी, पहले किनारे का ठंडा दलिया खाया होता, इस तरह धीरे-धीरे थोड़ी देर में बीच तक भी पहुँच जाता। दलिया के बीचों बीच एक दम हाथ डालकर उँगलियाँ जला लेने के सिवा और क्या परिणाम हुआ।"

जोधा को जाटनी की बात लग गई, और उसने उसी समय से मण्डोर पर आक्रमण करने का विचार त्याग कर पहले बाहरी प्रदेशों पर हमला करना निश्चित किया। जोधा की इस लूट-मार में और भी कितने ही सहायक आ मिले और वे देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर उपद्रव करने लगे। थोड़े दिनों में जोधा को फिर जन-धन की भयङ्कर हानि उठानी पड़ी। उसके कितने ही घोड़े भी मर गये। धन की कमी से उसके काम में रुकावट आगई और वह रात-दिन निराशापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। इस समय जोधा का कहीं ठीक-ठिकाना नहीं था, रात को भूखा-प्यासा वह जिस जगह पड़ रहता, वहीं उसका घर था। गाँवों के लोग भी अब उसे अपने यहाँ आश्रय देने में संकोच करने लगे थे। वह अपने दुर्भाग्य पर बड़ा दुखी था, और ऐसी दुर्दशा की अपेक्षा मृत्यु-मुख में जाना अच्छा समझता था।

धीरे-धीरे जोधा की दुरवस्था का हाल मेवाड़ की राजमाता तक पहुँचा। वह रणमल की बहन तथा जोधा की बुआ थी। बुआ अपने भतीजे की दुर्दशा का दुखदायी समाचार सुन कर बड़ी व्याकुल हुई और उसने तुरन्त महाराणा से कहा—"जिस रणमल ने चित्तौड़ की प्राण-पण से सेवाएँ कीं, जिसने बड़े-बड़े दुर्दमनीय दुश्मनों को नष्ट-भ्रष्ट कर मेवाड़ की विजय-पताका पर चार चाँद लगाये, आज उसके पुत्र जोधा के साथ मेवाड़ का ऐसा बुरा व्यवहार कि वह घर-बार नष्ट हो जाने

के कारण जंगलों में मारा-मारा फिरे! उसके रहने के लिए संसार में आज एक झोंपड़ा भी न हो!! क्या वीरों की सेवाओं के बदले में मेवाड़ के पास यही उपहार शेष रह गया है!” यह कहते हुए, अपने भतीजे की दुर्दशा का स्मरण कर, रानी का कण्ठ रुँध गया और वह अधिक न बोल सकी।

राजमाता की बात सुनकर राणा ने उत्तर दिया—“माताजी, रणमल ने चूँड़ाजी के भाई राघवदेव का वध करके, उनका बुरी तरह जी दुखाया था। जिस समय चूँड़ाजी को उस दुर्घटना की याद आ जाती है, उनका खून खौलने लगता है। वह क्रोध तथा दुःख के मारे विकल और विह्वल हो जाते हैं। भला राघवदेव ने उसका क्या बिगाड़ा था, जो उनकी हत्या की गई। रणमल को ऐसा करने का क्या अधिकार था। क्या इसे तुम उसका घोर अत्याचार या पापाचार नहीं समझतीं। मेरे विचार में तो रणमल ने यह ऐसा काम किया, जो उसे कभी कलङ्क-कालिमा से मुक्त न होने देगा। अब तुम जोधा की सिफ़ारिश करती हो तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ; परन्तु उसकी सहायता यही है कि यदि वह मंडोर लेने के लिए उद्योग करे, तो हम उसके प्रयत्न में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे।” राणा का आश्वासन पाकर रानी ने जोधा के पास गुप्तचर द्वारा तुरन्त सारा सन्देश भेज दिया, और उसे मण्डोर लेने के लिए प्रोत्साहित किया।

गुप्तचर चारण जोधा की खोज में चल पड़ा, परन्तु उस समय उसका कोई निश्चित ठिकाना न होने से चारण को बहुत

भटकना पड़ा। अन्त में वह एक जंगली स्थान पर पहुँचा, जहाँ जोधा अपने साथियों सहित भुने हुए चने चबा कर पेट भर रहा था। चारण ने राजमाता का सब सन्देश जोधा से कह सुनाया, जिसे सुन कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और मण्डोर लेने के लिए इधर-उधर से सैन्य-संग्रह करने लगा। क्योंकि अब उसे पूरा विश्वास हो गया था कि जब महाराणाजी को ही मण्डोर पर मेरा अधिकार हो जाने में कोई आपत्ति नहीं, तो फिर कोई भी शक्ति उसमें बाधक नहीं हो सकती। जोधाजी ने यत्र-तत्र अपने मित्र-मिलापियों से सहायता माँगी। कुछ जागीरदारों ने तो महाराणा के मुक़ाबिले में अपनी सेना भेजने से साफ़ इन्कार कर दिया। परन्तु तो भी उसे अपनी मौसी सतरावा की ठकुरानी की कृपा से अच्छी सहायता मिल गई, जिससे उसका साहस और भी बढ़ गया। अन्त में जोधा सहायता माँगने के लिए राजपूताना के वीरवर हरबा साँखला की सेवा में पहुँचा। साँखला दीन-दुखियों की सेवा-सहायता के लिए सदैव तय्यार रहता था। कोई भी पीड़ित-प्रताड़ित उसके पास पहुँच कर निराश न लौटता था। जोधा की कष्ट-कहानी सुनकर उसे भी हरबा साँखला ने सहायता देने का वचन दिया।

अब क्या था, जोधा ने दूसरे दिन सवेरे ही अपने दल-बल सहित मंडोर की ओर कूच कर दिया। सबसे पहले उसने महा-राणा के थाने पर आक्रमण कर द्वारपालों का बध किया। कितने ही और अफ़सरों को मारकर वह आगे बढ़ा और क्रमशः मंडोर

पर अधिकार कर लिया। इस नगर के वीर रक्षकों ने भी अपने स्वामी महाराणा कुम्भा का संकेत पाकर ढील दे दी, और उन्होंने जोधा के मारवाड़ पर अधिकार करने में विशेष बाधा न डाली।

मंडोर सात वर्ष महाराणा के अधिकार में रह कर फिर जोधाजी का होगया और उस पर पुनः राठौरों की पताका फह-राने लगी। चूँड़ाजी से जोधा की यह अनधिकार चेष्टा सहन न हुई। वह इस विजय को पराजय में परिणत करने के लिए तुरन्त तैयार होगये। परन्तु जब राणा कुम्भा ने चूँड़ाजी को समझाया और राजमाता के आग्रह से उसे अभय-दान दिए जाने की बात बताई, तो चूँड़ाजी ने जोधा से अपने कुटुम्बियों के वैर का बदला लेने का विचार छोड़ दिया। यद्यपि चूँड़ाजी के हृदय से जोधा के प्रति उत्पन्न हुए विद्वेष के भाव दूर न हुए थे, पर महाराणा कुम्भा की इच्छा देखकर वह चुप हो रहा और ख़ून का-सा घूँट पीकर बैठ गया।

जोधा ने खोई हुई अपनी पैतृक राज्य-सीमा पर अधिकार तो कर लिया, परन्तु वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि महाराणा की कृपा-कोर के बिना यह सफलता कदापि सम्भव न थी। अगर महाराणा कुम्भा, राज-माता की बात मान कर जोधा को ऐसा अवसर न देते, तो किसकी शक्ति थी जो मंडोर की राजगद्दी पर उसको अभिषिक्त करा सकता। महाराणा की युद्ध विषयक उदासीनता और उपेक्षा ने ही जोधा को अवसर दे दिया, जिससे वह मंडोर के रक्षकों पर अचानक आक्रमण कर

सफल मनोरथ होगया। अगर मुक़ाबले के लिए मेवाड़ से छोटी-सी भी सेना मंडोर रवाना हो जाती, या राणाजी की ओर से मंडोर के रक्षकों को ढील देने का संकेत न किया जाता, तो जोधा का विजयी होना कठिन ही नहीं असम्भव था। जोधा महाराणा की शक्तिमत्ता को भले प्रकार जानता था, इसी लिए उसने मंडोर की गद्दी पर बैठकर सब से प्रथम राणा से सन्धि करना आवश्यक समझा और उन्हें उनका गोंडवार प्रदेश वापस कर सारी अशान्ति दूर कर दी।

कुम्भा की कीर्ति

महाराणा कुम्भकर्ण अथवा कुम्भाजी की गणना मेवाड़ के परम पराक्रमशील तथा तेजस्वी राणाओं में की जाती है। कुम्भाजी महाराणा मोकल के सब से बड़े पुत्र थे। उनका जन्म परमार रानी सौभाग्यदेवी के गर्भ से हुआ था। गुहिलौत और परमार दो वंशों की विभूतियों के संयोग से जन्म ग्रहण करने के कारण ही कुम्भाजी इतने प्रतापी हुए। उनमें अपनी माता के वंश की संस्कृति और पितृ-कुल की वीरता का पूर्ण रूप से समावेश था। गुहिलौत या गहलौत वंश से सम्बन्ध रखने वाले राणाओं ने, लगभग १४ शताब्दियों तक लगातार राज्य किया। एक ही वंश या जाति की इतनी स्थायी प्रभुता बहुत कम देखने में आती है। इस से भी सिद्ध है कि मेवाड़ के महाराणा तथा राजपूत लोग, अपनी राज्य-सीमा का संरक्षण

और विस्तार करने में कितने कुशल थे। कहते हैं कि देहली में जब मुसलमानी राज्य स्थापित हुआ, तब से लेकर राणा कुम्भाजी के शासन-काल तक (२२६ वर्ष में) २४ बादशाह और एक बेगम कुल २५ शासक हुए थे, परन्तु चित्तौड़ में उतने ही समय में केवल ११ राजाओं ने मेवाड़ के राज्य-सिंहासन को सुशोभित किया।

महाराणा कुम्भा १४३३ ई० में मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठे, और १४६८ ई० तक बड़ी योग्यतापूर्वक शासन-कार्य करते रहे। कुम्भा का शासन-काल बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने शत्रुओं का मान-मर्दन करते हुए अपने धर्म, देश और जाति की रक्षा में सर्वस्व निछावर कर दिया। धर्मान्ध मुसलमान आक्रमणकारी, हिन्दुओं के मन्दिर तथा उनकी शिल्पकला नष्ट करने में अपनी बड़ी वीरता समझते थे। कुम्भा से पूर्व अलाउद्दीन खिलजी ने इस कुकर्म में बड़ा भाग लिया था। हिन्दुओं के सुप्रसिद्ध मन्दिरों और भवनों को तोड़ने-फोड़ने में उसे बड़ा आनन्द आता था। राणा कुम्भाजी युद्ध से अवकाश पाकर, शान्ति के दिनों में, प्रायः शत्रुओं द्वारा नष्ट किये गए भग्न मन्दिरों का ही जीर्णोद्धार कराया करते थे। कुम्भाजी ने अपने समय में मेवाड़ की उस समस्त क्षति की पूर्ति करली, जो खिलजी के क्रूर आक्रमण द्वारा किसी समय हुई थी। इतना ही नहीं, कुम्भाजी ने कला-कौशल की उन्नति और विद्या-प्रचार के लिए भी यथेष्ट उद्योग किया। उन्होंने राजपूतों में देश-भक्ति और वीरता के भाव जाग्रत कर दिये। उन्हें धर्म तथा जाति पर प्राणोत्सर्ग

करने का पाठ पढ़ाया और अपने शासन को सब प्रकार के साधनों द्वारा इतना सुदृढ़ एवं सुसंगठित कर लिया कि, उस तरफ़ आँख उठा कर देखना भी शत्रु के लिए कठिन हो गया।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक टाड महोदय का कथन है कि काकेशस की तलहटी में तथा आक्सस नदी के किनारे, मेवाड़ पर टूटने के लिए जिस भयङ्कर तूफ़ान की जड़ जम चुकी थी, और जो आगे चल कर राणा कुम्भाजी के पौत्र, राणा संग्रामसिंह के ऊपर टूटा, उसका सामना करने के लिए कुम्भाजी पूरी तैयारियाँ कर चुके थे। उन साधन-सामग्रियों के होते हुए वह भयङ्कर तूफ़ान अपनी विभीषिका तो दिखाता रहा, परन्तु मेवाड़ के आस-पास आने के लिए उसकी हिम्मत न हुई। राणा कुम्भा में हम्मीर का-सा बल-विक्रम, लाखा की-सी कला-प्रियता तथा दोनों की-सी बुद्धिमत्ता और इन सब से बढ़ कर अनुपम सौभाग्य-शीलता थी। इन्हीं सब गुणों के कारण सफलता देवी ने कभी कुम्भाजी का साथ नहीं छोड़ा। उन्होंने जिस काम में हाथ डाला उसी में वे सफल हुए, और जिस देश पर चढ़ाई की उसी को परास्त कर विजय-वैजयन्ती फहराते हुए स्वदेश वापस आये। राणा कुम्भाजी के समय में मेवाड़ उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच चुका था, उसका प्रताप-मार्त्तण्ड अपनी प्रचण्डप्रभा से जगमगा रहा था। कग्गर नदी के जिस तट पर, राणा समरसिंह ने दिल्लीपति पृथ्वीराज को सहायता देते हुए, शत्रु शहाबुद्दीन का मान-मर्दन कर वीर-गति पाई थी,

उसी पर एक बार फिर मेवाड़ की विजय पताका फहरा कर कुम्भाजी ने वीर सीसौदियाओं का सिर ऊँचा कर दिया।

राणा कुम्भा के समय में दिल्ली की दशा बड़ी अस्त-व्यस्त थी, कभी कोई शासक उसका तख़्त सँभालता और कभी कोई मैदान छोड़कर भागता था। किसी की शक्ति क्षीण हो रही थी और कोई अपनी सेना में संघटन का उद्योग कर रहा था। ख़िलजी वंश के दीपक की अन्तिम टिमटिमाहट का धुँधलासा प्रकाश दिखाई दे रहा था। देहली की बादशाहत नाममात्र को रह गई थी; उसमें शक्तिमत्ता का अभाव हो चला था। और तो और, स्वयम् देहली-नरेश के सूबेदार अपने स्वामी की कुछ भी परवा न कर, स्वतन्त्र होने का अवसर ताक रहे थे। कितने ही सूबेदार तो देहली की वशवर्तिता को तिलाञ्जलि दे स्वतन्त्र बन बैठे थे। उन्होंने अपने-अपने राज्य अलग-अलग स्थापित कर लिये थे। बीजापुर, गोलकुण्डा, मालवा, गुजरात, जौनपुर, कालपी आदि के सूबेदारों की गणना ऐसे ही स्वतन्त्र राजाओं में थी। उस समय सबसे बड़ी शक्तियाँ मालवा, गुजरात और नागौड़ की थीं। इन्होंने भी देहली की अधीनता त्याग कर अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र समझ लिया था। इन तीनों राज्यों के शासकों की यही इच्छा थी कि किसी प्रकार मेवाड़ पर आक्रमण कर, उसे अपने अधिकार में किया जाय। वे अपने समीपवर्ती हिन्दू राजपूतों का ऐसा प्रबल प्रभुत्व सहन न कर सकते थे, और सदैव उन्हें अपनी स्वतन्त्रता

के मार्ग में बाधक समझते थे। मालवा और गुजरात रात-दिन मेवाड़ की सत्ता को मिट्टी में मिलाने की बात सोचते रहते थे। उन्होंने अलग-अलग और अपनी संयुक्त शक्ति द्वारा भी, मेवाड़ का पतन करना चाहा, परन्तु वे सफल न हो सके। महाराणा कुम्भा ने अपने वीर-शिरोमणि सर्दारों और देशभक्त सैनिकों की सहायता से, मेवाड़ के इन प्रबल शत्रुओं के अनेक बार दाँत खट्टे किए और उन्हें बुरी तरह पछाड़ा, परन्तु फिर भी उनके हृदय में द्वेष की अग्नि बराबर प्रज्वलित होती रही, वे महाराणा को नीचा दिखाने के लिए नित नये षड्यन्त्र रचते रहे।

मेवाड़ के इतिहास में चूँड़ाजी का त्याग भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। चूँड़ाजी अपने पिता राणा लाखाजी के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण, मेवाड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी थे। वे बल-विक्रम और बुद्धिमानी में भी किसी से कम न थे। अपने पिता लाखाजी के वृद्ध हो जाने के कारण, मेवाड़ की सारी शासन-व्यवस्था उन्हीं के हाथ में थी। मेवाड़ की प्रजा उनसे बड़ी सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती थी। युवराज की लोक-प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। इतने ही में उनके साथ मंडोर (मारवाड़) के राव की कन्या का सम्बन्ध स्थिर करने के लिए पुरोहित टीका लाता है। इस टीके को देख कर बूढ़े राणा लाखा सफ़ेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए विनोद-वश, विवाह के लिए, अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। यह विनोदपूर्ण कलित कल्पना, चूँड़ाजी के आग्रह से

वास्तविकता में परिणत होती है । फलस्वरूप मेवाड़ का राज्य राणा की नवीन रानी के गर्भ से उत्पन्न मोकल को मिलता है और चूँड़ाजी अपनी इच्छा से एक जागीरदार की भाँति काल-यापन करते हैं।

हम समझते हैं, अपने पिता को प्रसन्न या सन्तुष्ट करने के लिए, राज्य की इतनी बड़ी सत्ता को ठुकरा देना कोई साधारण बात नहीं है। जहाँ बीघे-बीघे-भर भूमि के लिए, एक भाई दूसरे के रक्त-पान की इच्छा रखता हो, वहाँ चूँड़ा के-से आदर्श त्याग का उदाहरण उपस्थित करना बड़ा कठिन है। फिर इतना ही नहीं, अपने भाई मोकल के काल-कवलित होजाने पर अल्प-वयस्क भतीजे कुम्भाजी की सब तरह से सहायता करना, उसे राज-काज में पूरी मदद देना और किसी को किसी तरह की शिकायत न होने देना, यह भी चूँड़ाजी का ही काम था। जब चूँड़ाजी का मेवाड़ के साथ कोई स्वार्थ ही न रहा था, तो वह बालक राणा कुम्भाजी को उनके भाग्य पर छोड़ने के लिए स्वतन्त्र थे, परन्तु उन्होंने अपनी इच्छा से कभी ऐसा नहीं किया। हाँ, जब उन्हें एक सुसंगठित षड्यन्त्र द्वारा मेवाड़ छोड़ने के लिए संकेत किया गया, तो वे वहाँ से सहर्ष चल दिये। चूँड़ाजी को अपने वचन, कर्त्तव्य-पालन और मेवाड़ की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था। वह नहीं चाहते थे कि हम्मीरसिंह, लाखा या मोकल की विमल कीर्ति पर किसी प्रकार की कलङ्क-कालिमा आने पावे।

मेवाड़-मालवा-संघर्ष

कुम्भाजी के समय में मेवाड़ की आशातीत उन्नति हुई थी। मोकलजी की असमय मृत्यु होजाने से, जंगली जातियों और समीपवर्ती मुसलमान राज्यों ने जो उत्पात मचा रक्खा था, उसके दमन करने में भी उन्होंने सन्तोष-जनक सफलता प्राप्त की थी। कुम्भाजी ने अपने समय में मेवाड़ को सब भाँति सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिए किसी प्रकार की कमी नहीं की। उनके शासन में शिल्प और वाणिज्य की असीम उन्नति देखकर शत्रुओं को भी ईर्ष्या होने लगी थी। वैरियों को महाराणा का ऐसा उत्कर्ष, जिसकी सत्ता सब को स्वीकार थी, एक आँख न भाता था। मेवाड़ के शत्रुओं में सब से मुख्य गुजरात और मालवा के सुलतान थे। और भी कई बादशाह इस राज्य पर खार खाये बैठे थे। वे इस घात में थे, कि ज्योंही अवसर हाथ लगे त्योंही मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया जाय। गुजरात और मालवा ने तो अपनी शक्ति ही इसलिए बढ़ाई थी। मेवाड़-विजय कर चित्तौड़ के क़िले पर इसलामी झण्डा फहराना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। वे नहीं चाहते थे कि उनकी नाक के नीचे राजपूतों की प्रभुता का इतना अधिक विस्तार हो। उन की हार्दिक अभिलाषा थी कि इस दिशा में दो ही काम सम्भव हो सकते हैं। या तो मेवाड़ का पतन कर उस पर अधिकार किया जाय, अथवा महाराणा गुजरात और मालवा की अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर हों। इन दोनों में से एक बात

स्वीकार किये बिना कुम्भाजी को छुटकारा नहीं मिल सकता। निदान दोनों सुलतान अपनी प्रभुता के मद में इसी प्रकार सुख-स्वप्न देखते, और चाहते थे कि जिस प्रकार भी सम्भव हो इन विचारों को कार्य रूप में परिणत किया जावे। अपनी इसी दुर्भावना की पूर्ति के लिए, पहले तो दोनों सुलतानों ने अलग-अलग मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध करने की ठानी, फिर दोनों अपने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक होगये। परन्तु उन्होंने यह न सोचा, कि जिन सीसौदियाओं को पराजित करने का हम विचार कर रहे हैं, वे अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए हँस-हँस कर बलि-वेदी पर चढ़ने वाले आदर्श वीर हैं।

गुजरात और मालवा के बादशाह अपना दर्प दिखाने में कोई कमी न करते थे, परन्तु महाराणा पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता। वे इन दोनों शक्तियों को साधारण समझ कर, सदा उपेक्षा ही की दृष्टि से देखते रहते थे। उधर माँडू (मालवा) के बादशाह, सुलतान महमूद खिलजी के हृदय से तो बदला लेने की दुर्भावना कभी दूर ही न होती थी। १४४२ ई० की बात है, महाराणा कुम्भा ने हारावती पर हमला करने के लिए चित्तौड़ से प्रस्थान किया। राणा को चित्तौड़ पर किसी शत्रु के चढ़ आने की कुछ भी आशङ्का न थी, अतएव उन्होंने हारावती जाते समय चित्तौड़ की रक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध न किया था। राणा ने तो उधर हारावती की ओर कूच किया और इधर माँडू-सुलतान खिलजी चित्तौड़ के लिए चल पड़ा।

कुम्भलमेर पर आकर उसने पड़ाव डाल दिया और वहाँ के देव-मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट करने की तैयारी करने लगा। सुलतान अच्छी तरह जानता था कि राणा चित्तौड़ में नहीं है, ऐसी दशा में वह स्वच्छन्दता पूर्वक कार्य कर सकता है। परन्तु इतने ही में दीपसिंह नामक राणा का एक जागीरदार, अपनी सेना सहित खिलजी के सामने आया और उससे टक्कर लेने लगा।

छह दिनों तक दीपसिंह ने शत्रु-सेना के साथ भीषण युद्ध कर, मन्दिर पर खिलजी का अधिकार न होने दिया परन्तु सातवें दिन उसने बहादुरी के साथ लड़ते-लड़ते वीर-गति पाई, जिस से मन्दिर यवनों के हाथ में चला गया। खिलजी ने मन्दिर को तुड़वा कर मिट्टी में मिला दिया, और उस में स्थापित पाषाण-प्रतिमा को जला कर चूना तैयार कराया, जिसे मुसलमान लोग पान पर लगा कर खाते रहे। इस तुच्छ विजय से पागल होकर, सुलतान मेवाड़ को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की भावना से, चित्तौड़ की ओर बढ़ा।

जब महाराणा को यह सारा वृत्तान्त विदित हुआ, तो वह तुरन्त हारावती से चल पड़े, और उन्होंने मण्डलगढ़ के निकट सुलतान की सेना पर आक्रमण कर दिया। कई दिनों तक बराबर तुमुल युद्ध होता रहा। अन्त में सुलतान परास्त होकर माँडू की ओर भाग गया। कुछ साल बाद सुलतान खिलजी को फिर चित्तौड़ पर चढ़ने का शौक़ चर्राया, और वह मेवाड़-विजय के लिए माँडू से रवाना हो गया। परन्तु अब की बार

महाराणा ने उसे बीच ही में रोक कर, बुरी तरह पीछे खदेड़ दिया। फिर तो बहुत दिनों तक उसकी इस ओर आने की हिम्मत ही न हुई। सुलतान समझ गया कि राणा पर विजय प्राप्त करना साधारण काम नहीं है, क्योंकि उसकी राजपूत-सेना, प्राणों की बाजी लगाकर यवन-दल पर उसी तरह टूट पड़ती है, जिस प्रकार भूखे भेड़िये भेड़ों पर आक्रमण करते हैं।

इस घटना के लगभग दस वर्ष पश्चात् सुलतान खिलजी ने एक नई चाल चली। उसने महाराणा को भुलावे में डाल कर अजमेर पर आक्रमण करना चाहा। उसने बहाना यह बनाया कि अजमेर का राजपूत सूबेदार, मुसलमानों को धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं करने देता। वह इसलाम के मार्ग में अनावश्यक रूप से बाधक हो रहा है। इस धर्म-दुहाई के कारण कितने ही और भी धर्मान्ध मुसलमान सुलतान के साथ हो गये। अजमेर निवासी मुसलमानों ने समय पर सुलतान की सहायता करने का वचन दिया। सब से प्रथम खिलजी ने अपनी सेना मन्दसौर की ओर भेजी, जिससे महाराणा का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो गया। इधर पीछे से उसने अजमेर पर चढ़ाई कर दी। अजमेर के सूबेदार गजाधरसिंह ने यवन-सेना का बड़ी वीरता से सामना किया। वह उस पर हमला करने के लिए क़िले से बाहर निकल आया। दोनों सेनाओं में घमासान लड़ाई हुई। कई दिन घोर युद्ध करके, अन्त में गजाधरसिंह वीर-गति को प्राप्त हो गया। राजपूत सैनिक अपने सेनापति के नष्ट हो जाने से, युद्ध

बन्द कर जब दुर्ग में प्रवेश करने लगे, तो मुसलमान सिपाही भी उनके साथ हिल-मिल कर क़िले में घुस गये। इस प्रकार सुलतान ने अजमेर के क़िले पर अपना अधिकार कर लिया। ख़िलजी अजमेर के क़िले में अपना मुसलमान सूबेदार नियुक्त करके स्वयम् मण्डलगढ़ की ओर बढ़ा। परन्तु ज्योंही वह वहाँ की नदी के निकट पहुँचा, त्योंही क़िले से निकल कर महाराणा की सेना उस पर अचानक टूट पड़ी, और मार-काट कर उसे माँडू की तरफ़ भगा दिया।

शम्स की शरारत

इन्हीं दिनों की बात है, नागौड़ के सुलतान फ़ीरोज़ख़ाँ की मृत्यु हो जाने से, वहाँ की गद्दी के लिए उसके दो लड़कों में बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। फ़ीरोज़ख़ाँ का बड़ा बेटा शम्सख़ाँ गद्दी का उचित उत्तराधिकारी था, परन्तु छोटे लड़के मुज-हिदख़ाँ को यह बात सहन न थी, और इसी कारण वह अपने भाई के प्राणों का प्यासा हो रहा था। शम्सख़ाँ कुछ वीर आदमी न था। वह प्रतिकूल परिस्थिति का साहस पूर्वक सामना न कर, अपनी जान बचाने के लिए महाराणा कुम्भा की शरण में आ गया। कुम्भाजी ने उसे अश्वासन दिया, तथा कहा कि यदि वह नागौड़ की गद्दी पर बैठने के बाद, अपने क़िले का मुख्य भाग तुड़वाने और चित्तौड़ की अधीनता स्वीकार करने का वचन दे, तो उसे उसका छिना हुआ तख़्त वापस दिलाया जा सकता है।

शम्सख़ाँ ने राणा की दोनों शर्तें स्वीकार करलीं। फलतः महाराणा ने एक बड़ी सेना लेकर नागौड़ पर चढ़ाई की और मुजहिदख़ाँ को परास्त कर, शम्सख़ाँ नगौड़ की गद्दी पर बिठा दिया गया। इस समय राणा ने शम्स से अपनी शर्तें पूरी करने के लिए कहा। ज्योंही वह शर्त पूरी करने की इच्छा से क़िले के मुख्य भाग को गिरवाने लगा, त्यों ही उसके सर्दारों ने इस कार्य का विरोध किया। इस पर शम्स ने महाराणा से विनय-पूर्वक प्रार्थना की कि आप मुझे इस समय क्षमा करें। अगर मैं अपने सर्दारों की बात न मानकर इसी समय क़िले की दीवार गिरवाता हूँ, तो ये लोग यहाँ से आपके जाते ही मुझे मार डालेंगे। मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ और आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि जिस समय मेरे सर्दारों का जोश ठंडा पड़ जायगा, और विरोध शान्त हो जायगा, उसी समय मैं क़िले के इस भाग को ढहवा दूँगा। शम्स ने सोच लिया था कि इस समय किसी तरह बात टल जाय, पीछे कौन पूछता है। आख़िर यही हुआ भी। महाराणा पर शम्स का जादू चल गया। कुम्भाजी, जो अपने समान ही सब को सच्चा-सीधा समझते थे, शम्सख़ाँ की चिकनी चुपड़ी बातों में आगये। उन्हें उसके कथन पर पूर्ण विश्वास हो गया और उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

इसके बाद कुम्भाजी तो नागौड़ से मेवाड़ चले गए और शम्स निश्चिन्त होकर नागौड़ का शासन करने लगा। सब

व्यवस्था ठीक हो जाने पर शम्सख़ाँ को शैतानी सूझी। उसने महाराणा के साथ किए गए समझौते के अनुसार क़िले के मुख्य भाग को गिरवाने के बदले उल्टा उसे सुदृढ़ कराना आरम्भ कर दिया। शम्स को अपनी तुच्छ विभूति पर बड़ा दुरभिमान हो गया और वह अपने को परम शक्तिशाली बादशाह समझने लगा था। उस समय कदाचित् शम्सख़ाँ को यह धारणा हो गई थी, कि विपत्ति के समय तो राणा से अनुनय-विनय करके काम निकाल लिया, अब वह हमारा क्या कर सकता है। प्रथम तो राणा को इधर का ध्यान ही क्या होगा, यदि किसी ने याद दिला भी दी, और उसने फिर दबाव डाला, तो मेरा वही अनेक बार का अज़माया हुआ ख़ुशामद का हथियार मौजूद है। अपनी इसी मिथ्या धारणा के आधार पर शम्स ने राणा के साथ किया हुआ समझौता तोड़ दिया।

कुम्भाजी से भला शम्स की यह करतूत कैसे और कब तक छिपी रह सकती थी। मेवाड़ के दूतों ने जब राणा को नागौड़-सुलतान की ढिठाई का हाल सुनाया, तो वे उसकी धूर्तता से बहुत ही असन्तुष्ट हुए। राणा ने उसी समय अपने सेनापति को बुलाकर नागौड़ पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी। उधर शम्सख़ाँ ने भी अपने ऊपर कुम्भाजी की चढ़ाई करने का हाल सुना। मेवाड़ की ओर से वह निश्चिन्त तो पहले भी न था, उसने उसी समय गुजरात के कुतुबशाह को अपनी लड़की देकर उससे सम्बन्ध जोड़ लिया और उसे अपनी मदद के लिए बुला भेजा।

गुजरात-सुलतान तो पहले ही से महाराणा पर खार खाए बैठा था। अब उसने अपने रिश्तेदार की सहायता और पुराने शत्रु से वैर निकालने का अवसर पाकर, तुरन्त अपनी सेना को नागौड़ के लिए रवाना कर दिया।

कुम्भाजी को मार्ग में यह पता लगा, कि दक्षिण से गुजरात की फ़ौज भी शम्स की सहायता के लिए आ रही है। उन्होंने उसी समय निश्चय किया कि यदि दोनों मुसलमानी दल एकत्र हो गए, तो फिर उन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन हो जायगा। कहावत है कि एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। मान लो, यदि एक और एक ग्यारह न भी हुए, फिर भी दो तो निश्चय ही हो जायँगे। इसके अतिरिक्त नागौड़ में उन्हें क़िले से भी बहुत कुछ मदद मिल जायगी। इन सब बातों को विचारते हुए उचित यही है कि गुजरात-सुलतान की सेना, नागौड़ पहुँचने से पूर्व मार्ग में ही घेर ली जाय। उस सेना को हरा कर शम्सख़ाँ को क़ाबू में कर लेना तो बाएँ हाथ का खेल रह जायगा। अपने इसी निश्चय के अनुसार कुम्भाजी ने गुजरात से नागौड़ आने वाले मार्ग को घेर कर रास्ते ही में पड़ाव डाल दिया, और वहाँ वह यवन-सेना के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। मेवाड़ के गुप्तचर यवन-सेना सम्बन्धी सारे समाचार ला-ला कर राणा को सुनाते थे। एक दिन बड़े तड़के एक दूत ने आकर सूचना दी—"महाराज सुलतान की फ़ौज बहुत समीप आ चुकी है, यथा सम्भव आज दोपहर तक वह आपके

निकट पहुँच जायगी।" इस ख़बर के पाते ही राणा ने अपने सैनिकों को युद्ध की तैयारी करने के लिए आज्ञा दे दी।

थोड़ी देर में यवन-सेना आ पहुँची। मुसलमानों ने अपने आगे जब राजपूती सेना को मार्ग घेरे देखा, तो वे एक साथ चौंक उठे। उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि राजपूतों से रास्ते में ही मुठभेड़ हो जायगी। वे तो इस समय बड़े आमोद-प्रमोद में उछलते कूदते निश्चिन्त भाव से नागौड़ की ओर जा रहे थे। 'नागौड़ पहुँच कर एक दो दिन विश्राम करेंगे, ख़ूब ख़ातिरदारी होगी, तब कहीं लड़ाई की नौबत आवेगी' इत्यादि मनसूबे बाँधते हुए मुसलमान सिपाही आगे बढ़ रहे थे। पर यहाँ पहुँचते ही उनके सब सुख-स्वप्न हवा हो गए! अब तो शत्रु सिर पर मौजूद थे, बच कर निकल जाने का भी अवसर न था, ऐसी दशा में लड़ने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या रहा। विवश हो सुलतान की सेना को लड़ने के लिए तैयार होना पड़ा।

उधर राजपूत लोग पहले ही से तैयार बैठे, भूखे सिंहों के समान, अपने शिकार की बाट देख रहे थे। रण-भेरी बजते ही दोनों ओर के सैनिक एक दूसरे पर टूट पड़े। लोहे से लोहा बजने लगा। तलवारों की झनझनाहट और बन्दूकों की दूँ-दूँ से आकाश गूँज उठा! इस समय उभय पक्षों के सैनिक बड़े उत्साह और पराक्रम के साथ एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। इधर राजपूत वीर बाँके लड़ाके थे, तो उधर से मुसलमान भी अपनी पहली हार से चिढ़े होने के कारण, जोश में भरे हुए थे।

दोनों ही दलों को विजय की पूरी आशा थी। वे प्राणों की बाज़ी लगाकर एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा कर रहे थे। थोड़ी ही देर में युद्ध-भूमि रुण्ड-मुण्डों से पट गई ! रुधिर की धाराएँ बहने लगीं। यवन सैनिक, संख्या में अधिक होने पर भी मार्ग के थके हुए थे। दूसरे शीघ्रता में उन्होंने अपनी व्यूह रचना भी ठीक ढंग से न कर पाई थी। इसके विरुद्ध सुसज्जित राजपूत वीर कई दिन पूर्व से अपना मोर्चा जमाए हुए थे। ऐसी दशा में पूरा प्रयत्न और पराक्रम करने पर भी मुसलमान लोग राजपूतों का मुक़ाबिला न कर सके। आख़िर राजपूतों ने यवनों के पैर उखाड़ दिए और सुलतान की फ़ौज हार कर गुजरात की ओर भाग गई।

इस सेना को भगा कर राणा ने नागौड़ की तरफ़ कूच किया। उधर गुजराती फ़ौज के हार कर भाग जाने, और राणा के नागौड़ पर चढ़ाई करने का समाचार शम्सख़ाँ के पास पहुँचा तो वह घबरा गया। उसका युद्धोत्साह ढीला पड़ गया और उसने तुरन्त राणाजी से क्षमा माँग ली। उदारचित्त राणा तो आशुतोष थे ही। शम्सख़ाँ को गिड़ गिड़ाते और अनुनय-विनय करते देख, उनके हृदय में दया का समुद्र उमड़ आया, और उन्होंने उसे माफ़ कर दिया। शम्स ने इस समय भी अपने प्राण बचाने के लिए ही क्षमा माँगी थी। कुम्भाजी के मेवाड़ की ओर पीठ फेरते ही उसका रंग बदल गया, और वह फिर महाराणा से लड़ने के लिए विशेष रूप से तैयारियाँ करने लगा।

जब गुजरात के सुलतान कुतुबशाह ने देखा कि उसकी फ़ौज राणा से हार कर भाग आई है, तो वह अत्यन्त लज्जित हुआ और अपनी सेना पर क्रोध करने लगा। मेवाड़ के राणा ने गुजरात की इतनी बड़ी सेना मार कर भगा दी, यह बात कुतुबशाह से सहन न हो सकी। अतएव अब की बार वह पहले से भी अधिक शक्तिशालिनी सेना लेकर, कुम्भाजी से लड़ने को चला।

महाराणा को जब यह ख़बर मिली, कि गुजरात और नागौड़ दोनों प्रदेशों के मुसलमान फिर लड़ने की तैयारी कर रहे हैं, तो वह भी अपनी सेना लेकर उनका सामना करने के लिए चल दिए। राणा ने निश्चय कर लिया कि, अबकी बार यवनों की शक्ति इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी, जिस से वे फिर सिर उठाने योग्य ही न रहें। इसी विचार से राणा ने अपनी सेना को दो भागों में बाँटा। एक को तो उन्होंने कुतुबशाह की ओर भेज दिया, जिससे वह उसे मार्ग ही में रोके रहे, और दूसरे भाग को स्वयम् अपनी अध्यक्षता में लेकर, शम्सख़ाँ का मान-मर्दन करने के लिए नागौड़ पर चढ़ाई कर दी। शम्सख़ाँ को जीतना तो राणा के लिए अति साधारण कार्य था। वह बेचारा भली भाँति सम्हल भी न पाया था कि, मेवाड़ी सेना ने उसका क़िला घेर लिया। थोड़ी देर तो शम्सख़ाँ राणा से लड़ा, पर देश पर बलि होने वाले वीर बाँकुरे राजपूत योद्धाओं के आगे, उसके सैनिक अधिक देर तक न ठहर सके। आख़िर

शम्सख़ाँ की हार हुई, और नागौड़ पर राणा ने अधिकार कर लिया।

उधर गुजरात का कुतुबशाह अपने दल-बल के साथ, आबू, सिरोही आदि राजपूत-रियासतों को जीतता और उन पर अपना अधिकार जमाता हुआ, नागौड़ की ओर बढ़ा चला आरहा था। अचानक राणा की भेजी मेवाड़ी फ़ौज ने उसका मार्ग रोक लिया। दोनों में घमासान लड़ाई हुई, परन्तु इतनी बड़ी फ़ौज पर राजपूतों की अल्पसंख्यक सेना कैसे विजय पा सकती थी। इस समय राजपूतों का मुख्य उद्देश्य तो सुलतान की फ़ौज को रास्ते में अटकाए रखना था, अतएव अवसर पाते ही राणा की सेना समीप की एक पहाड़ी में घुस गई। कुतुबशाह भी अपनी फ़ौज द्वारा उस पहाड़ी को चारों ओर से घेरकर वहीं डट गया। यही राजपूत चाहते भी थे। राजपूत सैनिक कभी-कभी पहाड़ी के भीतर से ही, बन्दूकों की एकाध बाढ़ यवनों पर दाग़ देते थे, जिससे ये लोग खीझ कर पहाड़ी पर से अपना घेरा हटाने का कभी विचार ही न करें।

जब महाराणा ने सुना कि हमारी राजपूत सेना को मुसलमान लोग पहाड़ी में घेरे पड़े हैं, तो वह शीघ्रता पूर्वक नागौड़ पर अपना पहरा-चौकी स्थापित कर, तथा वहाँ के क़िले का सदर फाटक अपने साथ ले, कुतुबशाह की ओर चल दिये। नागौड़ से चलते समय कुम्भाजी, हनुमानजी की एक मूर्त्ति भी अपने साथ लेते गए, जिसे पीछे उन्होंने अपने नाम से बनवाए हुए कुम्भल-

मेर के प्रसिद्ध क़िले में, नागौड़-विजय के स्मारक-स्वरूप, स्थापित किया। कहते हैं, नागौड़ से लाया हुआ फाटक भी राणाजी ने इसी क़िले में लगवाया था। कुम्भाजी ने नागौड़ के क़िले को बिलकुल मिस्मार करा दिया। शम्स के ख़जाने से प्रचुर सम्पत्ति और बहुत-सी रत्नराशि भी राणा के हाथ लगी। इसी समय के बने "एकलिंग माहात्म्य" नामक काव्य में, कुम्भाजी के नागौड़ विजय का बड़ा रोचक और विस्तृत वर्णन है, जिसमें कुम्भाजी की बहुत प्रशंसा की गई है।

जब कुतुबशाह को मालूम हुआ कि कुम्भाजी नागौड़ जीतकर हमारे द्वारा घिरी हुई अपनी सेना के सहायतार्थ, बड़ी फ़ौज लेकर आ रहे हैं, तो उसने उनका सामना करने के लिए अपनी फ़ौज एकत्र कर ली। राणा के पहुँचते ही लड़ाई छिड़ गई। अवसर पाते ही पहाड़ी में छिपे हुए राजपूतों ने भी, सुलतान की सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया। कुतुबशाह का आधा साहस तो महाराणा द्वारा नागौड़ जीते जाने का समाचार सुनकर ही टूट गया था। अब आगे-पीछे दोनों ओर से राजपूतों का आक्रमण देखकर उसकी रही-सही हिम्मत भी जाती रही। राजपूतों की मार से घबराकर उससे कुछ करते धरते न बना और वह प्राण लेकर भाग गया। अब भला यवन सैनिकों में इतना दम कहाँ, कि वे प्रबल पराक्रमी महाराणा के आगे डटे रहते। आख़िर वे भी मैदान छोड़कर भाग गये और खेत कुम्भाजी के ही हाथ रहा।

मालवा और गुजरात दोनों देशों के बादशाह, जब पृथक्-पृथक् युद्ध करके महाराणा का बाल भी बाँका न कर सके, तब उन्होंने अपना गुट्ट बनाकर मेवाड़ पर सम्मिलित चढ़ाई करने का मनसूबा बाँधा। उन्होंने मुसलमानों को यह कहकर राणा के विरुद्ध भड़काया, कि राणा ने शम्सखाँ को भगाकर नागौड़ पर अधिकार कर लिया है, जो इस्लाम की धार्मिक दृष्टि से असहनीय है। दोनों सुलतानों में यह शर्त ठहरी, कि कुम्भा को पराजित करके मेवाड़ का दक्षिण भाग तो गुजरात में मिला दिया जाय, और बचा हुआ मेवाड़, अजमेर तथा अहीरवाड़ा, मालवा के सुलतान की सम्पत्ति हो।

समर-समारोह

जब कुम्भाजी को सूचना मिली, कि गुजरात और मालवा दोनों के बादशाह मिल कर मेवाड़ पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहे हैं, तो उन्होंने भी यवनों का मुक़ाबिला करने के लिए, शीघ्रता से सैन्य-संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। मेवाड़ के जागीरदार तथा समीपवर्त्ती राजाओं के पास रण-निमन्त्रण भेज दिये गये। कुम्भाजी के अधीनस्थ जागीरदार तो उनके आज्ञावर्ती थे ही, दूसरे राजाओं ने भी मेवाड़-रक्षार्थ विधर्मियों से युद्ध करने के लिए, राणा का बुलावा बड़ी प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया। नियत समय से पूर्व ही, चारों ओर से जागीरदार तथा राजाओं की सुसज्जित चतुरंगिणी सेनाएँ,

आ-आ कर चित्तौड़ में एकत्र होने लगीं। चित्तौड़ के चारों ओर दूर-दूर तक सैनिक ही सैनिक दिखाई देते थे। जिधर देखो उधर हाथी और घोड़ों के ठट्ट लगे हुए थे। भिन्न-भिन्न छावनियों पर लहराते हुए विविध आकार-प्रकार के झंडे नभोमण्डल में निराली छटा दिखा रहे थे। विस्तृत मैदान में, मीलों तक पंक्ति-बद्ध खड़े हुए श्वेत-पटमण्डपों को देखकर, दूर से स्वच्छ सलिला विशाल नदी का-सा भ्रम होता था। भाँति-भाँति के मारू बाजों की ध्वनि, हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट और असंख्य सैनिका का कल-रव, सबके सम्मिलित कोलाहल से दसों दिशाएँ गूँज रही थीं। योद्धाओं में अपूर्व उत्साह और अदम्य साहस के चिह्न दिखाई देते थे।

सब जागीरदारों और राजाओं के ससैन्य एकत्र हो जाने पर, राणा कुम्भा ने एक बड़ा दरबार किया, जिस में प्रधान-प्रधान पुरुषों को बुला कर युद्ध के सम्बन्ध में अनेक परामर्श किए गए। उसी दरबार में सर्वसम्मति से यह भी निश्चित हुआ, कि मुसलमानों ने अकारण ही हम पर चढ़ाई करदी है। हमारी ओर से कोई भी कारण ऐसा उपस्थित नहीं किया गया, जिस से वे लोग हम से युद्ध करने के लिए बाध्य हुए हों। उन्होंने मद में उन्मत्त होकर ही सिर उठाया है। ऐसी दशा में हमारा कर्त्तव्य है कि, यवनों का दुरभिमान झाड़ कर, उनकी अक्ल ठिकाने लावें। हमें उचित है कि, समय रहते शत्रुओं की राज्य-सीमा में पहुँच कर वहीं उनसे मोरचा लें, जिस से हमारी प्रजा को

युद्ध के कारण होने वाली हानियाँ न उठानी पड़ें। उक्त निश्चय के अनुसार, दूसरे दिन प्रातःकाल ही, सम्पूर्ण सेना युद्ध-यात्रा के लिए तैयार होने लगी। रसद तथा गोला-बारूद, गाड़ियों, ऊँटों और खच्चरों पर लदवा कर रवाना किए जाने लगे। सलूम्बर के सरदार, चौहान, राठौर, झाला, हाड़ा, परमार तथा सीसौदिया जागीरदार अपनी-अपनी सेनाएँ सजा कर, चलने के लिए उत्सुकता दिखाने लगे। हाथियों पर हौदे और घोड़ों पर जीन कसे जाने लगे। राजपूत योद्धा हथियारों और कवचों को अपने शरीरों पर सजाने लगे। उस समय उनका युद्धोत्साह दर्शनीय था। मारे प्रसन्नता के उनके पैर पृथ्वी पर न पड़ते थे। चारणों द्वारा पढ़ी गई वीर-रस पूर्ण कविताओं और लड़ाई के बाजों को सुन कर वीरों की भुजाएँ फड़कने लगीं। हाथी-घोड़े भी चलने के लिए ऐसे उतावले हो रहे थे, मानो वे अपने स्वामियों के मनोभावों को समझ रहे हैं और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र शत्रुओं के सिर पर पहुँचा देना चाहते हैं। दूर तक खड़ी हुई गजराजों की पंक्तियाँ देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो आकाश से प्रलय-काल की मेघ-माला भूमि पर उतर आई है। कहते हैं, कि इतने हाथी-घोड़े मेवाड़ की किसी लड़ाई में एकत्र न हुए थे। तीन-चार घंटे में सम्पूर्ण सेना सुसज्जित हो, महाराणा कुम्भा के आगमन और आदेश की प्रतीक्षा करने लगी।

इसी समय राणाजी पधारे। उनके आते ही सम्पूर्ण योद्धाओं ने एक स्वर से—'एकलिंग भगवान् की जय', 'मेवाड़ के

महाराणा की जय' का गम्भीर घोष किया। राणा कुम्भा ने आते ही सब राजाओं, सरदारों और सैनिकों को, आदरपूर्वक, सम्बोधन करते हुए कहा—"वीरो! आप सब को यह तो ज्ञात ही है कि, मालवा और गुजरात के यवन शासकों ने निरपराध मेवाड़ का विध्वंस करने की इच्छा से, सम्मिलित चढ़ाई करदी है। आज आप सब लोग इन्हीं प्रबल शत्रुओं का मान-मर्दन करने के लिए एकत्र किए गए हैं। इस समय आप सब का कर्त्तव्य है कि, यवनों को मेवाड़ की सीमा के बाहर ही रोक कर, वहीं उनका मुँह कुचल दें! मुझे आप लोगों की वीरता, स्वदेश-भक्ति और स्वजाति-प्रेम तथा स्वाभिमान को देख कर पूर्ण विश्वास है कि, इन पाप-परायण अधम अत्याचारियों पर हमें अवश्य विजय प्राप्त होगी। युद्ध में किस प्रकार बर्तना और पराक्रम प्रदर्शित करना चाहिए, ये बातें आप लोगों को समझाना व्यर्थ हैं। क्योंकि सदा-सर्वदा से आप लोगों के यहाँ यही काम होता चला आ रहा है, और आप सब वीर अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति जानते हैं। फिर भी इतना अवश्य याद रखना चाहिए, कि वीर राजपूत युद्ध-भूमि से विजय अथवा वीर-गति प्राप्त करके ही सन्तुष्ट होते हैं। युद्ध में उनके दोनों हाथों में लड्डू रहते हैं। यदि शत्रुओं को मार भगाया, तो विजयश्री तथा यश की प्राप्ति हुई, और यदि वैरियों के हाथों मारे गए तो स्वर्ग मिला। बस, चलो यवनों से जननी-जन्म-भूमि और स्वधर्म की रक्षा करो। मुझे दृढ़ विश्वास है, कि आप लोग

जिस उत्साह से आए है, वह बराबर युद्ध के अन्त तक आपके साथ रहेगा। याद रहे, जिस दिन के लिए वीर क्षत्राणियाँ पुत्र पैदा किया करती हैं, वह दिन आज आगया है। बहादुरो! आगे बढ़ो, और राजपूतनियों के दूध का प्रभाव तथा प्रताप शत्रुओं को दिखा दो। भगवान् एकलिंग आपका कल्याण करें।

कुम्भाजी से आदेश और प्रोत्साहन पाकर वह विशाल वीर-वाहिनी एक साथ जयघोष करती हुई, बरसाती महानदी के समान आगे बढ़ी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो भारी जन-समुद्र उमड़ा चला आरहा है। अश्वारोही, गजारोही और पैदलों के पद-प्रहार से उठी हुई धूल ने आकाश-मण्डल और सूर्य को ढक दिया था। इस सेना में एक लाख से अधिक सवार और पैदल, तथा डेढ़ हज़ार के लगभग हाथी थे। सब योद्धा वीर-रस में पगे, परस्पर अपने पूर्व पुरुषाओं के प्रबल पराक्रम की चर्चा करते हुए चले जारहे थे। उनका उत्साह उमड़ा पड़ता था और भुजाएँ बार-बार फड़कती थीं। प्रत्येक वीर की यही अभिलाषा थी, कि वह कब शत्रुओं के सामने पहुँचे, और कब अपनी चिर-पिपासित खड्ग को उनका रक्त-पान करा कर तृप्त करे। वीरों की रोषपूर्ण लाल-लाल आँखें, शत्रु-सेना की खोज में दूर दूर तक दौड़ रही थीं। मार्ग में बीतने वाला समय योद्धाओं के लिए अत्यन्त असह्य हो रहा था। युद्ध की उमंगें उनके हृदयों में हिलोरें मार रही थीं।

इस प्रकार चलते-चलते महाराणा कुम्भा की फ़ौज मेवाड़ की सीमा पर जा पहुँची। मेवाड़ की सीमा समाप्त होते ही मालवा की ओर दूर तक ढालू ज़मीन चली गई थी। ढलाव समाप्त होने की जगह एक बहुत बड़ा मैदान था। मैदान के दोनों तरफ़ दूर तक ऐसी घनी भाड़ियाँ थीं कि जिनमें हज़ारों सैनिक छुपा दिये जायँ तो पता न चले। मालवा से मेवाड़ आने के लिए दो पहाड़ियों के बीच संकीर्ण घाटी का ही मार्ग था, जो इसी मैदान में आकर समाप्त होती थी। इस प्रकार उस मैदान के दो ओर घनी भाड़ियाँ, एक ओर मेवाड़ की ऊँची चढ़ाई, तथा एक ओर उक्त घाटी का संकुचित मार्ग होने के कारण, वह चारों ओर से घिरा हुआ था। यह स्थान कुम्भाजी को अपना मोरचा जमाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ा, इसलिए उन्होंने वहीं अपनी सेना को रोक, उसे तीन भागों में विभक्त किया। एक भाग को मैदान के दोनों ओर भाड़ियों में छिपाकर दूसरे को घाटी के इधर-उधर पहाड़ों में बैठा दिया। तीसरे भाग को लेकर कुम्भाजी स्वयं मैदान के सामने ऊँचाई पर जम गए। इस प्रकार व्यवस्था कर, राणा ने सब को सूचित कर दिया, कि जिस समय यवन-सेना घाटी से निकल कर इस मैदान में आ जाय, उसी समय मैं भेरीनाद कराऊँगा। भेरी का शब्द सुनते ही भाड़ियों में छिपे हुए वीर, दोनों ओर से शत्रुओं पर आक्रमण कर दें। मैं सामने उन्हें मेवाड़ की ओर बढ़ने से रोकूँगा। ऐसी दशा में यदि यवन-सेना पीछे को भागे, तो पहाड़ियों पर बैठे हुए वीर उस पर शस्त्रास्त्र बरसावें, जिससे

वह घाटी में होकर न भागने पावे। इस प्रकार सबको यथास्थान नियुक्त कर, राणा ने सलूम्बर के सरदार चूँड़ावत को कुछ चुने हुए योद्धाओं सहित यवन सेना का पता लगाने भेजा।

सलूम्बर सरदार तो उधर यह जानने के लिए गए, कि शत्रु कितनी संख्या में तथा अभी कितनी दूर हैं और इधर राणा के सिपाही अपनी अपनी जगह बैठे हुए, बड़ी उत्सुकता से वैरियों की बाट जोहने लगे। चूँड़ावत ने कुछ दूर घाटी में चलकर देखा, कि सामने आकाश में बहुतसी धूल उड़ रही है। उसने अनुमान किया कि हो न हो, शत्रुओं की सेना यही है। जब सरदार ने शीघ्रता से एक पहाड़ी पर चढ़कर दृष्टि दौड़ाई, तो उसे बिल्कुल ही निश्चय हो गया। थोड़ी देर में यवनों का लश्कर अत्यन्त निकट आगया और अब उसकी लम्बाई-चौड़ाई स्पष्ट दीखने लगी। शत्रु सेना की विशालता का अन्दाज़ लगाकर, सलूम्बर-सरदार तुरन्त पहाड़ी पर से उतर, साथियों सहित मेवाड़-दल की ओर चल दिया, और वहाँ पहुँच उसने राणा को सब सूचना दी। राणाने उसी समय ख़बर भेजकर राजपूत सैनिकों को सचेत कर दिया। कुम्भाजी ने अपनी सेना के आगे हाथियों को पंक्तिबद्ध खड़ा करा लिया, जिससे मुसलमान सहसा उस पर हमला न कर सकें। हाँ, यदि वीर राजपूत यवनों पर आक्रमण करना चाहें तो, वे सहज ही में आगे बढ़ सकें इस बात की सुविधा रक्खी।

राणा यह व्यवस्था कर ही पाए थे, कि शत्रु-सेना का अग्र-भाग मैदान में आ पहुँचा। फ़ौज के आगे चलने वाले सेना-

नायक ने, जब सामने हाथियों की पंक्ति खड़ी देखी तो, वह वहीं ठिठक गया। उसने अपनी फ़ौज को भी आगे बढ़ने से रोक, उसे मैदान में इधर-उधर फैल जाने की आज्ञा दी। देखते-देखते वह विशाल रण-क्षेत्र मुसलमान सिपाहियों से भर गया। जब सेना का अन्तिम भाग भी घाटी से निकल आया, तो उसके नायक ने जा हाथियों को देख आगे घटने वाली घटना का अनुमान कर चुका था, अपनी समस्त सेना को व्यूह के रूप में वहीं जमा दिया। उधर राजपूत बड़ी आतुरता से महाराणा के संकेत की प्रतीक्षा करने लगे। यवन सैनिक भी अब अचेत न थे, वे आने वाली विपत्ति का प्रतीकार करने के लिए सन्नद्ध हो चुके थे।

महाराणा हाथी पर से उतर घोड़े पर सवार हुए, और सैनिकों को भेरी-नाद द्वारा आक्रमण करने का संकेत कर स्वयं यवन-सेना के अग्रभाग पर टूट पड़े। वीर राजपूतों ने बड़े उत्साह के साथ, एकलिंग का जयघोष करते हुए, शत्रुओं पर आक्रमण कर दिया। उधर यवन सिपाहियों ने भी 'अल्लाहो-अकबर' के नारे लगाकर, राजपूतों का मुक़ाबिला किया। दोनों ओर से तलवारें चलने लगीं, घोर घमासान युद्ध आरम्भ होगया। सब ओर से मारो-मारो काटो-काटो की ही आवाज़ सुनाई देती थी। कट-कट कर लाशों पर लाश गिरने लगीं। थोड़ी ही देर में रुधिर की कीच हो गई। पहले यवनों ने समझा था कि, जो सेना सामने खड़ी है उसी से लड़ना है। पर जब इधर-उधर

झाड़ियों में से भी दनादन गोलियाँ चलने लगीं, तो वे घबरा उठे। मालवा और गुजरात के बादशाहों ने जब अपनी सेना को विचलित होते देखा, तो वे दोनों आगे आकर उसे प्रोत्साहन देने और अपने साथ आगे बढ़ने का संकेत करने लगे। अपने स्वामियों को वीरता-पूर्वक आगे बढ़ कर युद्ध करते देख, मुसलमान सैनिकों का खोया हुआ धैर्य फिर वापस आगया, और वे दूने उत्साह से युद्ध करने लगे।

झाड़ियों में से किए गए बन्दूकों के वार सब कामयाब होते थे, पर यवनों की ओर से चलाई गई गोलियाँ, छिपे हुए राजपूतों का कुछ भी न बिगाड़ पाती थीं। इस प्रकार यवनों की शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होने लगी। सामने से राणा ने बुरी तरह मार-काट मचा रक्खी थी। वह एक-एक बार में दो-दो तीन-तीन यवनों के सिर काट देते थे। राणा के साथी सलूम्बर, लूणावत, चूँड़ावत, हाड़ा आदि सरदार भी, इस प्रवीणता से तलवार चला रहे थे कि देखते ही बनता था। उनकी तलवारें या तो आकाश में कौंधती थीं, या शत्रुओं की गर्दन पर चमचमाती दिखाई देती थीं। यद्यपि यवन सैनिक संख्या में राजपूतों से अधिक थे, और वे जी तोड़कर बड़े उत्साह से लड़ भी रहे थे, फिर भी राजपूतों द्वारा उनका बुरी तरह संहार हो रहा था। युद्ध-भूमि में जो सैकड़ों-सहस्रों योद्धा कट रहे थे, उनमें यवनों की ही तादाद अधिक थी, फिर भी मुसलमान सैनिक हिम्मत हारने

का नाम न लेते थे। वे बड़ी दृढ़ता से मैदान में डटे हुए थे, यहाँ तक कि एक सिपाही के मरते ही उसकी जगह दो आ खड़े होते ।

जब यवन सिपाहियों को इस प्रकार वीरता और पराक्रम के साथ लड़ते देखा, तो राजपूत लोग उन पर शीघ्र विजय प्राप्त कर सकना कठिन काम समझने लगे। फिर भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। वीर क्षत्रिय विजय और स्वर्ग दोनों में से एक चीज़ प्राप्त किए बिना युद्ध से कब टलने वाले थे। यवनों को साहसपूर्वक मुकाबिले में डटे देख राणा को बड़ा क्रोध आया और वह जोश में आ अपने वीर सैनिकों सहित उत्साह पूर्वक आगे बढ़ने लगे। राणा अपना घोड़ा बढ़ाकर मालवा-सुलतान के हाथी के समीप जा पहुँचे, और उन्होंने एक ही भाले में उसके महावत को भूमि पर गिरा दिया। उधर सुलतान ने भी राणा पर भाले का वार किया, जिसे वीर कुम्भाजी ने ढाल पर रोक लिया। फ़ीलवान के मारे जाने पर बादशाह हाथी से उतर, घोड़े पर सवार होकर युद्ध करने लगा। गुजरात का सुलतान भी अपने मित्र मालवा-नरेश के सहायतार्थ घटना-स्थल पर पहुँचा। मुसलमानों ने राणा पर अनेक वार किए, पर युद्ध-कुशल राणा उन सब को बचाते हुए अपने प्रहारों से शत्रुओं का बराबर संहार करते रहे। इस भीषण मार-काट में सहस्रों ही यवन-सैनिक यम-धाम सिधार गए।

जिस समय महाराणा कुम्भा यवन-सेना के अग्रभाग में भयंकर जन-संहार कर रहे थे, उसी समय झाड़ियों में बैठे हुए राजपूत वीरों ने भी, बड़े उत्साह और साहस के साथ यवनों पर आक्रमण कर दिया। मुसलमान सेना तीन ओर के हमले न सम्हाल सकी और उसके पैर उखड़ गए। जब यवन सैनिकों पर चारों तरफ़ से मार पड़ने लगी, और उन्हें अपने बचाव का कोई उपाय न सूझा, तो वे मैदान छोड़कर भाग निकले। सबसे प्रथम गुजरात-सुलतान अपने प्राण बचाकर चम्पत हुआ! सेनापति के भागने पर भला सेना कैसे ठहर सकती थी। जिसका जिधर मुँह उठ गया वह उधर ही भाग निकला। जो मुसलमान भागकर घाटी की तरफ़ गए, उन्हें घाटी के दोनों ओर की पहाड़ियों पर छिपे हुए राजपूतों ने घेरा। उनमें से बहुतों ने तो हथियार रख राजपूतों का दासत्व स्वीकार कर लिया। जिन्होंने थोड़ी भी अकड़ दिखाई, वे तुरन्त तलवार के घाट उतार दिये गए। मालवाधीश्वर ने अपनी अवशिष्ट सेना का समुचित संघटन करने के लिए भरसक प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। एक भी सिपाही उनके रोके न रुका। इस भग-दड़ में राजपूतों ने मालवा-सुलतान के बहुत से साथियों को पकड़ कर बन्दी बना लिया। इस प्रकार उस भीषण युद्ध का अन्त हुआ, और मालवा तथा गुजरात दोनों की सम्मिलित शक्ति पर, परम प्रतापी महाराणा कुम्भा ने अपने रण-कौशल एवं पराक्रम द्वारा विजय प्राप्त की। इस युद्ध में राणाजी की

भी कम क्षति नहीं हुई थी। उनके भी अनेक वीर रणचण्डी की भेंट होगए।

यवन शत्रुओं का दर्प-दलन कर वीर राजपूत विजयोल्लास से आनन्दित होते हुए मेवाड़ की ओर लौटे। राणा की विजयिनी सेना बड़ी धूम-धाम से चित्तौड़ में प्रविष्ट हुई। नगर निवासियों ने बड़े आदर से विजयी वीरों का स्वागत किया। राजपूत रमणियों ने भी वीरों पर पुष्पवृष्टि कर उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार विजयलक्ष्मी के साथ विजित बन्दियों को भी लेकर महाराणा चित्तौड़ के किले में आगये। महाराणा के विजयोपलक्ष्य में नगर-निवासी अनेक प्रकार के राग-रंग करने लगे।

इस महायुद्ध का परिणाम यह हुआ, कि गुजरात और मालवा के दोनों सुलतान न तो अपनी खोई हुई राजसत्ता को वापस ले सके, और न मेवाड़ की चप्पा-भर भूमि उनके पल्ले पड़ी। सुलतान खिलजी तो महाराणा द्वारा कई बार पराजित होकर, इतना हताश और भयभीत होगया था कि, जब तक वह जिया, कभी उसने मेवाड़ की ओर मुँह करने का साहस न किया। इस पराजय के थोड़े दिनों पश्चात् ही सुलतान कुतुबुद्दीन का भी देहान्त होगया और वह भी मेवाड़-विजय की वासना अपने साथ ही लिये चल बसा।

शत्रुओं पर इस प्रकार विजय का सिक्का बैठाना, मेवाड़ राजसिंहासन के लिए कोई अनहोनी बात न थी। चित्तौड़ की गद्दी

इस विषय में अपनी उपमा नहीं रखती। चित्तौड़ के राणाओं ने कभी अपने शत्रुओं के आगे कायरता से माथा टेकना पसन्द नहीं किया। उनके वीर राजपूत सिपाहियों ने अपनी जान पर खेल कर स्वदेश, स्वजाति और स्वधर्म की रक्षा की, तथा आर्यभूमि का गौरव बढ़ाया। जिन योद्धाओं को कर्त्तव्य-पालन के पवित्र यज्ञ में अपने अमूल्य शरीरों की आहुति देते हुए स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता है, उन्हें पराजित करना साधारण काम नहीं है।

महाराणा कुम्भाजी न तो स्वयं किसी पर अत्याचार करते थे और न दूसरों पर किसी के द्वारा अत्याचार होते देख सकते थे। हिन्दू या मुसलमान कोई भी शासक क्यों न हो, वह तुरन्त उसके अत्याचार का कड़ुवा फल उसे चखाने के लिए तैयार हो जाते थे। इस कर्त्तव्य-पालन से प्रेरित होकर उन्हें कितनी ही बार हिन्दू शासकों की बुद्धि भी ठीक करनी पड़ी। उस समय उन्होंने इस बात का बिल्कुल विचार न किया, कि मैं अपने सहधर्मियों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा हूँ। इतना ही नहीं, अगर कोई अत्याचार-पीड़ित मुसलमान भी महाराणा की शरण में आकर सहायतार्थ प्रार्थना करता तो, वे उसके लिए भी सब प्रकार से तैयार हो जाते। यह थी महाराणा के हृदय की विशालता, उदारता और न्यायप्रियता। इतिहास में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें न्याय और धर्म की रक्षा के लिए इतना विचार रक्खा गया हो। अस्तु,

मालवा और गुजरात के सुलतानों का पाप काट कर, राणा कुम्भा शान्ति से बैठे ही थे, कि अमरगढ़ पर बूँदी के हाड़ा भाँड़ा और साँड़ा ने अपना अधिकार कर, मण्डलगढ़ के राजपूतों को कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया। इस अत्याचार से राजपूतों की रक्षा करने के लिए राणा कुम्भा आगे बढ़े, और उन्होंने हाड़ाओं को हराकर असरगढ़ पर अपना अधिकार कर लिया। इस लड़ाई में हाड़ाओं के बड़े-बड़े सर्दार मारे गये और वे बिलकुल शक्तिहीन-से दिखाई देने लगे। जब मेवाड़ी सेना ने बूँदी को चारों ओर से घेर लिया, तो भाँड़ा और साँड़ा ने महाराणा की शरण में आकर अपने अपराध की क्षमा माँगी, तथा बूँदी को छोड़ देने के लिए प्रार्थना की। उदाराशय राणा ने दोनों की प्रार्थना स्वीकार कर ली, और वह केवल सैनिक व्यय लेकर बूँदी से चित्तौड़ चले गये। एक ऐसी ही और घटना है जिसका सम्बन्ध सिरोही से है। सिरोही के देवदास ने मेवाड़ की वशवर्तिता त्याग कर, आबूगढ़ पर स्वच्छन्दता पूर्वक अपना अधिकार कर लिया था। यह बात राणाजी को अच्छी न लगी, उन्होंने तुरन्त सेना भेजकर सिरोही के सर्दार को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। पीछे आपने आबू पर एक सुन्दर सरोवर तथा राज-प्रासाद का निर्माण भी कराया।

राणा कुम्भाजी धार्मिक भी बड़े थे। वे गो-ब्राह्मणों की रक्षा हृदय से चाहते थे। जिस समय उन्हें ज्ञात हुआ कि नागौड़ में मुसलमान लोग गो-घात कर रहे हैं, तो तुरन्त पचास हज़ार

सेना लेकर वह वहाँ पहुँच गए; और हज़ारों शत्रुओं को तलवार के घाट उतार कर उन्होंने क़िले पर अधिकार कर लिया। उस समय क़िले में हाथी, घोड़े, जवाहरात आदि जो कुछ मिला सब चित्तौड़ भेज दिया। नागौड़ का सुलतान मैदान छोड़ कर अहमदाबाद भाग गया। उधर से गुजरात-सुलतान देश में लूट-मार कर, कुम्भलगढ़ की ओर बढ़ा चला आ रहा था। राणाजी ने भी आगे बढ़ कर उस पर आक्रमण किया, जिस से वह नष्ट-भ्रष्ट होकर, मालवा होता हुआ, अपनी राजधानी को वापस चला गया। कहते हैं, उस दिन से यवनों पर राणाजी का ऐसा सिक्का बैठ गया, कि कोई छिपकर भी गो-घात करने के लिए तैयार न होता था। सब को यही भय बना रहता था, कि कहीं इसकी सूचना राणा को मिल गई तो संकट के सागर में भयङ्कर तूफ़ान आए बिना न रहेगा।

मृत्यु और स्मारक

स्वार्थ बड़ी बुरी बला है, मनुष्य इसके वश में होकर क्या नहीं कर डालता। जिस समय स्वार्थ का काला परदा मनुष्य की आँखों पर पड़ जाता है, उस समय उसे भला-बुरा, ऊँच-नीच, न्याय-अन्याय और पुण्य-पाप कुछ भी नहीं सूझता। इसी स्वार्थ ने इतिहास-प्रसिद्ध कौरव-पाण्डवों का महायुद्ध कराया, जिसका कुफल भारत आज तक भोग रहा है। इसी स्वार्थ पिशाच ने औरङ्गज़ेब के हाथों सगे भाई दारा की हत्या कराई। इसी स्वार्थान्धता ने भारत-सम्राट् शाहजहाँ को, उसी के पुत्र द्वारा

क़ैद कराया। यही स्वार्थ मेवाड़ के महाराणा कुम्भा की मृत्यु का भी कारण हुआ। १४६८ ई० की बात है, कुम्भाजी कुम्भलगढ़ में अपने बनाए एक तालाब के तट पर आनन्दपूर्वक बैठे, भगवद्भक्ति में निमग्न थे। उस समय उन्हें सांसारिक प्रपंच की सुध भूली हुई थी। न राज्य का ध्यान था, न प्रजा का पता। न घर का होश था, न बाहर का ख़्याल। यहाँ तक कि उस वक्त उनको अपने शरीर तक का ज्ञान न था। उस समय कुम्भा का ध्यान केवल आनन्दकन्द सच्चिदानन्द भगवान के चिन्तन में लगा हुआ था। इसी समय कुम्भाजी का बड़ा बेटा उदयकरण वहाँ आया, और उसने अचानक राणाजी के हृदय में छुरा भोंक उनका काम तमाम कर दिया!

उदयकरण की इस नीचता का कारण, भयङ्कर स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ न था। उसे भय था, कि कहीं उसका छोटा भाई रायमल, महाराणा का कृपा-पात्र बन कर चित्तौड़ की गद्दी का अधिकारी न हो जाय। कुछ लोगों का यह भी विचार है, कि उदयकरण ने यह हत्या कुम्भाजी के शत्रुओं के बहकाने में आकर की थी। कारण कुछ भी हो, पर उदयकरण ने यह भयानक पाप अवश्य किया, और इस अक्षम्य अपराध एवं आसुरी अत्याचार के कारण, वह ऊदा हत्यारे के नाम से पुकारा जाने लगा। यहाँ तक कि इतिहासों में भी इसका इसी नाम से उल्लेख किया गया है। वास्तव में ऐसे हत्यारों की कभी सद्गति नहीं हो सकती। प्रथम तो हत्या करना ही महापातक है, तिस पर भी

पिता की हत्या, और पिता भी महाराणा कुम्भा जैसे प्रबल पराक्रमी सहृदय-शिरोमणि और धर्मात्मा ! जब तक संसार में न्याय का नाम मौजूद है, तब तक ऊदा जैसे पितृ-घातक के कलंकित नाम पर दशों दिशाओं से धिक्कार पड़ती रहेंगी। आज न महाराणा कुम्भा हैं, न हत्यारा उदयकरण, परन्तु दोनों के कार्य-कलाप संसार के सामने मौजूद हैं। एक की विश्व-विख्यात विमल कीर्ति का स्मरण कर हृदय में वीरता और देशभक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं, और दूसरे की घोर घृणित नीचता के कारण क्रोध से जी जल उठता है।

कुम्भाजी को स्वप्न में भी शंका न थी, कि अपने पुत्र की पैनी कटारी द्वारा, भगवद्भजन करते हुए उनका बध होगा। राणाजी के सम्बन्ध में ज्योतिषियों ने बहुत पहले भविष्यवाणी की थी, कि वे किसी चारण के हाथ से मारे जायँगे। इस भविष्य-वाणी से कुम्भाजी बहुत भयभीत हो गए थे। उन पर सदैव चारणों का डर चढ़ा रहता था। ज्योतिषियों के कथन पर राणाजी को इतना विश्वास होगया था, कि उन्होंने राज्य से सब चारणों को निकलवा दिया, और उनकी ज़मीन तथा जायदादें ज़ब्त करलीं। राजकुमार रायमल को कुम्भाजी का यह काम पसन्द न था, उन्होंने कुम्भाजी के इस व्यवहार का विरोध किया, अतएव उनका भी मेवाड़ से बहिष्कार किया गया। परन्तु मरने से कुछ ही दिन पूर्व राणा को इन निर्वासितों का ध्यान आया, और उन्होंने उन्हें फिर मेवाड़ में वापस आने की आज्ञा देदी।

ज्योतिषियों के कथनानुसार किसी चारण ने तो राणा की हत्या नहीं की, परन्तु स्वयं उनका पुत्र ही हत्यारा बन गया ! यह कैसी अघटनीय घटना और कितना विचित्र संयोग था। राणा को आशंका कुछ थी और हुआ कुछ और ही ! यह सब विधि का विपरीत विधान नहीं तो क्या है !

महाराणा कुम्भकरण ने लगभग पैंतीस वर्ष चित्तौड़ के सिंहासन पर सुशोभित रहकर, शत्रुओं का दर्प-दलन करते हुए, राजपूतों की विमल विभूति अक्षुण्ण रक्खी। राणा संसार में नहीं रहे, परन्तु उनके प्रबल पराक्रम की धवल ध्वजा अब तक वीरता के विशाल भवन पर फहरा रही है। राणा वीरता और सज्जनता के अनुपम आदर्श थे। उनका बल आश्रितों की रक्षा करने और दुष्टों को उचित दण्ड देने के लिए था। उनका धन स्वयं अच्छे-अच्छे भोग भोगने ही के लिए न था, प्रत्युत दीन-हीनों की सहायता और यज्ञ होमादि शुभ कार्य करने के लिए था। राणाजी के राजत्वकाल में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाता था। क्या मजाल थी कि कभी कोई राज-कर्मचारी प्रजाजनों को सताता या उनसे अनुचित भेंट लेता। कुम्भाजी प्रजा को सन्तान की भाँति समझते और पालते थे। रैयत भी उनका पिता के समान आदर करती थी।

महाराणा की विजयिनी खड्ग-धार के प्रवाह में असंख्य शत्रुओं के मदोन्मत्त मुण्ड, तुच्छ तिनके की तरह बहते चले जाते थे। जिधर उनका हाथ उठ जाता, उधर ही शत्रु-सेना काई की

भाँति फट जाती और उसमें त्राहि-त्राहि मच जाती थी। अपने को वीर-शिरोमणि समझने वाले अनेक बादशाहों ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की, परन्तु कुम्भाजी ने अपनी रण-कुशलता से सबको परास्त कर दूर तक खदेड़ दिया। विजय-श्री को भयंकर शत्रु के हाथों में से छीन लाना राणा के लिए एक कौतुक मात्र था। राणा ने अत्याचारी यवन शासकों की तरह कभी किसी की धार्मिक भावना को ठेस नहीं पहुँचाई, और न कभी मानवता का निरादर कर अनावश्यक रूप से रक्त-पात ही किया। वह अनिवार्य आवश्यकता उपस्थित होने पर ही युद्ध में प्रवृत्त होते थे। राणा अपने जीवन में कभी पराजित नहीं हुए। मेवाड़ की रक्षा जिस योग्यता से राणा ने की, वह मुक्तकण्ठ से सराहनीय है। उनका सारा जीवन विजय का जीता-जागता इतिहास था। जिस शत्रु के पीछे पड़ गए उसे मिट्टी में मिला कर ही छोड़ा। राणा ने अपने जीवन में जिन नगरों, दुर्गों और स्थानों को अपने अधिकार में किया, उनकी सूची बहुत बड़ी है। गुजरात और मालवा के बादशाहों को युद्ध में बार-बार पराजित कर, उनसे नाकों चने बिनवाना कुम्भाजी का ही काम था। उन्होंने देहली के बादशाह के भी कई बार दाँत खट्टे किए।

नागौड़ के बादशाह को राणा ने जो मजा चखाया, वह राणा कुम्भा जैसे प्रबल पराक्रमी वीरवर की ही शक्ति थी। पहाड़ी-प्रदेशों को पराजित कर उन पर अपनी विजय-पताका फहरा देना, राणा के लिए एक साधारण बात थी। राणा ने अपनी

राज्य-सीमा को सुरक्षित रख, उसे सुदृढ़ और सुसंगठित ही नहीं किया, बल्कि उसमें और भी बहुतसे प्रदेश जीत कर मिला लिए। स्थान-स्थान पर कितने ही क़िलों का निर्माण कर, मेवाड़ की स्थिति को कुम्भा ने अजेय कर दिया। उन्होंने अपने जीवन में बत्तीस क़िले बनवाए। राणा को तालाब और भवन बनवाने का बड़ा शौक़ था। नए दुर्ग बनवाने के अतिरिक्त उन्होंने कितने ही क़िलों का जीर्णोद्धार भी कराया। आबू पर्वत पर अचलगढ़ नामक विशाल दुर्ग राणा कुम्भा का ही बनवाया हुआ है। वास्तुकला की दृष्टि से यह क़िला अपना अद्भुत महत्त्व रखता है। इसी पहाड़ पर कुम्भस्वामी का मन्दिर और रामकुण्ड नामक सरोवर भी कुम्भाजी के विमलयश की याद दिलाते हैं। कुम्भाजी की सैनिक और भवन-निर्माण सम्बन्धिनी बुद्धि का चमत्कार देखना हो, तो कुम्भलगढ़ के इतिहास-प्रसिद्ध क़िले का निरीक्षण करना चाहिए। भयानक संकट उपस्थित होने पर चित्तौड़ के राज-परिवार को शरण देने वाला यही दुर्गम्य दुर्ग है। मेवाड़ पर जब-जब आपत्ति आई, और जब-जब यवन शासकों ने इस पर क्रूर आक्रमण किए, तब-तब ही कुम्भलगढ़ के क़िले से, राजपूतों को बहुत बड़ी सहायता मिली।

कुम्भलगढ़ और चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ महाराणा कुम्भा की कीर्ति के अमिट स्मारक अब तक विद्यमान हैं। कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण मालवा और गुजरात के बादशाहों पर विजय पाने के उपलक्ष्य में हुआ था। इसकी ऊँचाई एक सौ बीस फुट है।

इसमें नौ मञ्जिलें हैं, जिन पर चढ़ने के लिए घुमावदार सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। महाराणा की कीर्ति के साथ-साथ यह स्तम्भ तत्कालीन शिल्पकला को भी पूरी तरह प्रकट करता है। इसकी तैयारी में नव्वे लाख रुपये व्यय हुए बताए जाते हैं। कुम्भाजी ने चित्तौड़ के सात दरवाज़े भी बनवाए थे। इनके बनवाए हुए देवालयों में रणपुर का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण है। कला की दृष्टि से भी यह भवन अपना विशेष स्थान रखता है। इसके बनवाने में भी कुम्भाजी को लाखों रुपये ख़र्च करने पड़े थे। कुम्भाजी ने एकलिङ्गजी के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और उसके समीप कुम्भ-मण्डप बनवाया। अभिप्राय यह कि राणा कुम्भा को देवालय, दुर्ग तथा सर्व साधारण के लाभार्थ तालाब आदि बनवाने का बड़ा शौक़ था। उन्होंने अपार सम्पत्ति व्यय करके ऐसे-ऐसे दिव्य भवन बनवाए, जिन्हें देख हमें चकित होना पड़ता है। इन सब में चतुर शिल्पियों ने जो-जो शिल्प-कौशल दिखाए हैं, वह देखने ही से सम्बन्ध रखते हैं। लेखनी या वाणी द्वारा उनका वर्णन नहीं हो सकता।

प्रायः देखा जाता है कि वीर विजयी लोग सेना-संचालन, शत्रु-दमन और शासन-कार्य में तो बड़े निपुण होते हैं, परन्तु ललितकला अथवा विद्वत्ता सम्बन्धी बातों की ओर उनकी बिलकुल रुचि नहीं होती। रुचि न होने का एक कारण यह भी होता है, कि वे लोग इस ओर अपनी प्रवृत्ति ही नहीं रखते, अथवा ऐसा करने का उन्हें अन्य कार्यों से अवकाश ही नहीं मिलता।

परन्तु महाराणा कुम्भाजी इस नियम के अपवाद थे। जहाँ कुम्भा ने वीर विजयी योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति को अजर-अमर बनाया, वहाँ उन्होंने अपनी विद्वत्ता की धाक भी संसार में बिठा दी। वे साहित्य और संगीत के पारदर्शी विद्वान् थे। मालूम नहीं सदैव युद्धादि में संलग्न रहने पर भी, उन्हें इन विषयों का अध्ययन करने के लिए कैसे समय मिल जाता था। कहने का अभिप्राय यह है, कि वीर विजयी महाराणा कुम्भा कवि, नाटक-रचयिता, टीकाकार और संगीताचार्य भी बड़े गज़ब के थे। युद्ध सम्बन्धी प्रबन्धों में संलग्न रहते हुए भी, बात की बात में उत्कृष्ट कविता तैयार कर लेना उनके लिए एक साधारण बात थी। कुम्भाजी अपने समय के अद्वितीय संगीतज्ञ थे। उन्हें संगीत के नियमों तथा उस कला का इतना अच्छा और व्यापक ज्ञान था, कि कोई व्यक्ति उनकी समता न कर सकता था। उनके इस असीम संगीत-ज्ञान के कारण लोग उन्हें अभिनव भरताचार्य के नाम से पुकारने लगे थे। कुम्भाजी रचित संगीतराज, संगीतमीमांसा और रसिकप्रिया नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ पर जो टीका की है, उसे देख कर उनके संगीत विषयक प्रकाण्ड पाण्डित्य का अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है। कुम्भाजी का रसिकप्रिया नामक ग्रन्थ, प्रसिद्ध गीत-गोविन्द का भावानुवाद बताया जाता है। कुम्भाजी ने कई नाटकों की रचना भी की है। वे वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, मीमांसा, राजनीति गणित, व्याकरण और तर्कशास्त्र के भी प्रसिद्ध ज्ञाता तथा

विद्वान् थे। संस्कृत के अतिरिक्त वह अन्य कई भाषाएँ भी जानते थे। एकलिंग-माहात्म्य का अन्तिम भाग भी उन्हीं का लिखा हुआ है। उनकी संस्कृत-कविता बड़ी सरल, सरस, स्वाभाविक और प्रसादगुण युक्त होती थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि कुम्भाजी प्राकृत भाषा के भी अच्छे विद्वान् थे। मालूम नहीं इस कथन में कहाँ तक सचाई है।

महाराणा कुम्भा स्वयं तो विद्वान् थे ही, साथ ही वे विद्वानों और कलाकारों का आदर भी ख़ूब करते थे, उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए कभी राणाजी ने संकोच से काम नहीं लिया। जो विद्वान् या गुणी राजसभा में आया, उसे ही आश्रय देकर यथेष्ट रूप से पुरस्कार दिया गया। कुम्भाजी ने अपनी देख-रेख में कितने ही विद्वानों से, भवन-निर्माण-कला या वास्तु-कला पर अनेक महत्त्व-पूर्ण तथा गम्भीर ग्रन्थ लिखवाये थे, जिनमें से कुछ तो अब भी मिलते हैं। कुम्भाजी का गौरव विद्वान् होने के कारण भी कुछ कम न था। यह अनेक विषयों के पूर्ण पण्डित होने के कारण, विद्वानों में बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

महाराणा साँगा

मेवाड़-महत्त्व

वीर-भूमि मेवाड़, भारतवर्ष और हिन्दू जाति का गौरव बढ़ाने वाली है। चित्तौड़-रक्षा के लिए, वीर शिरोमणि क्षत्रियों को अपने प्रचण्ड भुजदण्डों द्वारा, शत्रु-मान-मर्दन करने के लिए, जो-जो प्रबल पराक्रम करने पड़े, उनके कारण आज आर्य-जाति गौरव से गर्दन ऊँची किए हुए है। छोटे-छोटे बालकों की अभूतपूर्व देश-भक्ति देखकर, हृदय आनन्द से उछल पड़ता है। भारत का वह कैसा सुन्दर सुयुग था, जब स्वतन्त्रता और स्वदेश के लिए, अबला कही जाने वाली, वीर क्षत्राणियाँ भी, अपने सुन्दर शरीरों को, बात की बात में, अग्नि देवता के अर्पण कर देती थीं। उस समय न उन्हें सन्तान का मोह सताता था, और न कोई अन्य सांसारिक लोभ। वे देश-सेवा के लिए सर्वस्व निछावर कर, अपनी, अपने धर्म की, अपनी जाति और अपने पतियों की कीर्ति-पताका को ऊँचा रखना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझती थीं। उस समय

वीर राजपूत कर्त्तव्य-पालन में अपने क्षणभंगुर शरीरों का मोह न करते थे। वे जी तोड़कर लड़ते और अपनी अदम्य असि-धारा में सहस्रों शत्रुओं को बहाते हुए आगे बढ़ते थे।

अहा! कैसा रोमाञ्चकारी दृश्य था, जब राजपूत वीरों के शरीर टूटे क़िले के मार्ग में निर्जीव दीवार की तरह, अड़ जाते और प्राण रहते हुए, शत्रु-सेना को उधर न फटकने देते थे। बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी 'उफ़' करना या घबराना क्षत्रियों के स्वभाव के विरुद्ध था। वे परमात्मा के अनुग्रह और अपने बाहुबल पर ही, सबसे अधिक विश्वास रखते थे। मेवाड़ का इतिहास पढ़ने से .खून खौलने लगता है। शत्रुओं के अना-चार और अत्याचार से उनके प्रति घृणा के भाव जाग्रत हो जाते हैं, परन्तु साथ ही यह जानकर सन्तोष होता है कि तत्कालीन क्षत्रिय वीर अत्याचार सहना भयङ्कर अपराध समझते थे। उन्हें मृत्यु -मुख में प्रविष्ट होना पसन्द था, परन्तु वे अत्या-चारी शत्रु की अधीनता एक पल को भी स्वीकार न कर सकते थे।

जिस जाति में गौरव-रक्षा के लिए अपने व्यक्तित्व की कुछ भी परवा नहीं की जाती वही समुन्नत होकर, संसार में वीरता का आदर्श उपस्थित करती है। वीर-भूमि मेवाड़! तू धन्य है, .तूने बप्पा रावल और राणा संग्रामसिंह को जन्म दिया है। प्रताप और कुम्भा तेरी ही गोद में खेल कर, भारत-वसुन्धरा और आर्यजाति का मान विश्व-विख्यात कर गये।

पन्ना धाय और आदर्श-पतिव्रता रानी पद्मिनी की जन्म-भूमि तू ही है। न जाने कितनी वीरांगनाएँ देश-भक्ति की पवित्र वेदी पर बलिदान देकर तेरी मिट्टी में मिल गईं! आज तेरा एक-एक परमाणु भारत की मान-मर्यादा बढ़ाने वाला है। तेरी ओर मुँह करने से भी शरीर में उत्साह की बिजली कड़क उठती है, तेरी पुण्य-स्मृति आज भी कायरों में वीर-भाव भरने के लिए, पर्याप्त है। चित्तौड़! तेरी महिमा कहाँ तक वर्णन करें। तेरे लिए जिस प्रकार राजपूतों ने रक्त की धारा बहाई, वह तेरा ही भाग था। आज तेरी मिट्टी के कण-कण से स्वतन्त्रता और बलिदान की गम्भीर गूँज आ रही है, त्याग और तप की ध्वनि निकल रही है।

मेवाड़ धन्य है, चित्तौड़ धन्य है, और धन्य हैं वे प्रातः-स्मरणीय वीर स्त्री-पुरुष जिनके आदर्श चरित्रों को पढ़ कर आज हम अपने को धन्य समझते हैं। जब तक आर्य जाति के पास मेवाड़ का महत्त्वपूर्ण इतिहास मौजूद है, तब तक उसे कोई भी निरादर की दृष्टि से नहीं देख सकता। यह वह रक्त-रंजित वीर-गाथा है, जो मुरदों में शक्ति-संचार करती, कायरों को कर्मवीर बना कर समराङ्गण में लाती और कर्मवीरों में त्याग, तप एवं बल-बलिदान के भव्य भाव भर देती है। ऐसे पुण्यश्लोक आदर्शचरित्रों का जितना ही पाठ हो, उतना ही देश और जाति के लिए लाभदायक है।

मुसलमान शासकों का बोल बाला था, अफ़ग़ान शक्तियों की कमान चढ़ रही थी। जिधर देखो उधर ही इनका प्रभुत्व दिखाई देता था। उत्तरी भारत के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य हिन्दू-नरेश, मुसलमानों की वशवर्तिता स्वीकार कर चुके थे। हिन्दुओं की ऐसी हीन अवस्था थी कि उन में 'उफ़' करने का भी साहस न रहा था, वे अपनी वंश-परम्परागत महत्ता और वैभवशालिता का स्मरण कर दुखी तो बड़े होते थे, परन्तु बलवान विदेशी आक्रमणकारियों के आगे उनकी चलती कुछ न थी। कितने ही हिन्दू नरेश तो ऐसे थे, जो अपने कुल-गौरव का विचार त्याग कर मुसलमानों के सच्चे सेवक और सखा बन गये थे। उन्हें अफ़ग़ानियों के विजय में हर्ष और पराजय में विषाद होता था। हिन्दुओं की यह मलिन मनोवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई थी कि कुछ नरेश तो मुसलमान शासकों के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो, स्वयम् अपने भाई हिन्दू राजाओं पर आपत्ति का पहाड़ पटकते और उन्हें नाना प्रकार से पद-दलित करते-कराते थे। अभिप्राय यह कि देश में इस प्रकार स्वार्थान्धता और अत्याचार की काली घटा घहरा रही थीं और धार्मिक पक्षपात के कारण हिन्दुओं का नाक में दम था। ऐसा मालूम देता था, मानों संसार में हिन्दू सत्ता-महत्ता के चिह्न भी शेष नहीं रहेंगे और सर्वत्र 'अल्लाह-ओ-अकबर' के नारे सुनाई देने लगेंगे। तत्कालीन बुद्धि-विशारद हिन्दुओं के हृदय में निराशा-निशा अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकी थी, वे साहस-हीन और

पस्त हिम्मत हो 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' बन, परमात्मा से लौ लगाये हुए थे, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

ऐसे घोरतम घटनाचक्र और ऐसी निविड़ निराशा-निशा में अगर कहीं कोई आशा की कोर दिखाई देती थी, तो, वह मेवाड़ की महिमामयी वीर-भूमि थी। मेवाड़ के रणबाँकुरे राजपूत, विदेशी आक्रमणकारियों की अत्याचार-कथा सुन कर अत्यन्त दुखी हो रहे थे। मुसलमानों द्वारा किये गए अत्याचारों के कारण हिन्दुओं का ख़ून खौल रहा था। इन वीरों को सोते-जागते, उठते-बैठते अगर कोई धुन थी, तो अपनी जाति-जननी को बचाने और मातृ-भूमि को सुरक्षित रखने की थी। वे वीर-वंशज सदैव इसी चिन्ता में रहते थे कि हिन्दू नरेशों का खोया हुआराज्य कैसे वापस लिया जाय और इस घोर घृणित अत्याचार से किस भाँति मुक्ति मिले। मेवाड़ के राजपूतों ने अपना अमूल्य समय व्यर्थ सोच-विचार में नष्ट नहीं किया। सबसे पूर्व उन्होंने अपने घरेलू-भेद-भाव दूर कर, क्षत्रियों का एक संघ बनाने की योजना की, जो सब को पसन्द आई। मेवाड़ और उसके निकटवर्त्ती सबही राजा लोग एक हो गये और ऐसी संकटपूर्ण परिस्थित में, महाराण संग्राम-सिंह को उन्होंने अपना नेता चुना।

राणा संग्रामसिंह 'हिन्दू-पति' कहे जाने लगे। इस संघ-शक्ति के कारण सब को आशा होगई कि अब हिन्दुओं के दिन फिरने वाले हैं, और उनका खोया हुआ राज्य उन्हें फिर वापस

मिले बिना न रहेगा। ऐसे समय में महाराणा संग्रामसिंह ने, जिन्हें राणा साँगा भी कहते हैं, इस योग्यता से नेतृत्व किया कि, सर्वत्र उनकी वीरता तथा बुद्धिमत्ता की प्रशंसा होने लगी। राणा साँगा की उदारता, वीरता, कर्त्तव्य-बुद्धि और स्वदेश-भक्ति ने उन्हें प्रत्येक हिन्दू के हृदय का हार बना दिया। उस समय अगर किसी पर आशा बँधती थी, अगर ऐसे घोर संकट में जाति का कोई निर्भय नेता दिखाई देता था, तो वह वीर-वर राणा साँगा थे। राणा साँगा के कारण हिन्दू-सत्ता इतनी सुदृढ़ हो गई कि लोगों के निराश हृदयों में फिर आशा का उदय होने लगा, और जातीय अभिमान से फिर सब ने एक बार अपना मस्तक ऊँचा कर लिया।

उस समय लोगों की निश्चित धारणा थी कि राणा साँगा जिस सुयोग्यता पूर्वक नेतृत्व कर रहे हैं, वह उन्हीं के अनुरूप है। दूसरा कोई आदमी इस प्रकार इतने उत्तरदायित्वपूर्ण पद का कार्य-संचालन नहीं कर सकता। ऐतिहासिकों की धारणा है कि, विदेशी शक्तियों को खदेड़ देने के लिए, जिस महावीर की अध्यक्षता में, समस्त राजपूत जातियों के सुदृढ़ संघ की अन्तिम स्थापना हुई, वह महाराणा साँगा था। राणा साँगा के पश्चात् फिर कभी यह सुन्दर सुयोग भारत के भाग्य में नहीं बदा था। दैवदुर्विपाक से, इस देश की छिन्न-भिन्नता और परवशता के कारण, ऐसे स्वर्ण अवसर का न आना वास्तव में हिन्दू जाति के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात रही, परन्तु विधाता के विचित्र

विधान में मानवी शक्ति कर ही क्या सकती है। जब परमात्मा को किसी जाति का कल्याण अभीष्ट होता है, तो सब ढंग भी वैसे ही बन जाते हैं। महाराणा साँगा के बाद बड़े-बड़े शूर-सामन्त और प्रतापी राजा धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए, जिन्होंने अपने प्रचण्ड बाहुबल द्वारा, भयंकर से भयङ्कर शत्रुओं क मान- मर्दन कर, उन्हें लज्जित और पराजित किया; परन्तु राणा साँगा के बाद राजपूताना एक नरेश के नेतृत्व में फिर कभी नहीं आया।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट विदित होता है कि महाराणा साँगा ने जिस समय राजपूताने की बागडोर अपने हाथ में ली उस समय शान्ति का युग न था, बल्कि बड़ी ही संकटपूर्ण परिस्थिति थी। सर्वत्र वैर-विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। युद्धों से पलक मारने का भी अवकाश न मिलता था, हर वक्त संग्राम के मोरचे अड़े रहते थे। राजपूत अपने जातीय गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए वीरोचित प्रबल पराक्रम का प्रशंसनीय परिचय देते थे। वह सिंह-समान दहाड़ते हुए जिस प्रकार शत्रुदल में कूदते थे, उसकी पुण्य स्मृति आज भी मुर्दों में नवजीवन और नवीन स्फूर्ति संचार किये बिना नहीं रहती। इन वीर योद्धाओं की दृष्टि में कुल-गौरव और जातीय अभिमान से बढ़ कर संसार की कोई भी संपत्ति न थी। वे अपना सर्वस्व स्वाहा करने को समुत्सुक रहते और मातृ-भूमि का संकट क्षण भर के लिए भी न सह सकते थे। उस समय राजपूतों को अपने महारथी राणा

साँगा के संकेत पर, स्वदेश-रक्षा के लिए, शत्रु-दल संहारते हुए, प्राणों की आहुति दे देना एक कौतुक मात्र था। उधर मुसलमान, शासकों की क्रूरता और कट्टरता, औचित्य की सीमा लाँघ कर उद्दण्डता और उग्रता के रूप में परिणत हो रही थी। उनकी हिन्दू-हित-विधातिनी मलिन मनोवृत्ति नग्न नृत्य करने में अपनी उपमा न रखती थी। वे राजपूताने के सर्वनाश की प्रबल प्रतिज्ञा कर चुके थे, हिन्दुओं का संहार उनकी कपोल-कल्पना का प्रिय विषय बन चुका था। परन्तु राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूताने की संघशक्ति के सिर उठाते ही, वैरियों का माथा ठनका और वे क्षत्रियों की गति-विधि को चिन्तातुर दृष्टि से देखने लगे।

आततायी का अन्त

मालवा और गुजरात अपने वैभव पर फूले न समाते थे, उन्हें अपनी शक्ति पर बड़ा अभिमान था, वह अपने सैन्य बल के सामने किसी की कुछ भी परवा न करते थे। यहाँ तक कि मेवाड़ भी इन दोनों राज्यों की दृष्टि में बहुत साधारण समझा जाता था। कभी-कभी मालवा और गुजरात की ओर से ऐसी चेष्टा होने लगती, जिससे मेवाड़ाधिपति महाराणा कुम्भा को मार्मिक वेदना पहुँचती थी, परन्तु वे आपस की लड़ाई को अच्छा न समझ लोहू का-सा घूँट पीकर रह जाते थे। जब मालवा और गुजरात का गर्व बढ़ता ही गया और उन्होंने मेवाड़ की उपेक्षापूर्ण शान्ति को निर्बलता समझना शुरू किया, तो महा-

राणा कुम्भा से न रहा गया और उन्होंने उपर्युक्त दोनों प्रदेशों को वह नीचा दिखाया कि उनका सारा गर्व-गौरव मिट्टी में मिल गया !

संसार विजय का साथी होता है, वह जीत की जय बोल, विजेता के बाहु-बल पर विश्वास करने लगता है। यही बात राणाजी के साथ हुई। जब लोगों ने देखा कि राणा ने मालवा तथा गुजरात के दाँत खट्टे कर दिये और उनका घमण्ड-घट फोड़ दिया, तो मेवाड़ की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई और वहाँ के वीर राजपूतों के पराक्रम की चर्चा चारों ओर होने लगी। कुम्भाजी की इस विजय से उनका बड़ा नाम हुआ, सर्वत्र उनकी विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। उस समय कुम्भाजी की सफलता कितनी ही आँखों में काँटे की तरह खटक रही थी। और तो और स्वयम् कुम्भाजी के पुत्र उदयसिंह को अपने पिता के साथ बड़ी ईर्ष्या थी, और वह शीघ्रातिशीघ्र मेवाड़ाधिपति बनकर तारीफ़ लूटने की ताक में रहता था। परन्तु पिता की मौजूदगी में गद्दी मिलनी कठिन थी, इसलिए पहले उदयसिंह ने राणा कुम्भा का ही काम तमाम किया। उदयसिंह की यह कुत्सित करतूत किसी से छिपी न रही, सब लोग उसे इस नीच कार्य के लिए धिक्कारने तथा हत्यारा उदयसिंह कह कर पुकारने लगे। अन्त को हत्यारा उदयसिंह कुम्भलगढ़ की गद्दी पर बैठा। परन्तु लोकमत उसके इतना विरुद्ध था कि, उसे सदैव यही भय बना रहता कि कहीं मैं गद्दी से न उतार दिया जाऊँ, अथवा दूसरे राजा मुझे मेरे पाप का दण्ड देने के लिए कुम्भलगढ़ पर चढ़ाई न करदें। उदयसिंह से लोग

इतने अप्रसन्न थे कि, मेवाड़ का कोई भी व्यक्ति उससे सम्बन्ध रखना पसन्द न करता था। ऐसी दशा में उसने राज-कोष का धन पानी की तरह बहाकर, समीपवर्ती राज्यों से मित्रता मोल ली, और वह उनकी सहायता के भरोसे अपने को निर्भय समझने लगा। कितने ही राजाओं को तो उदयसिंह ने इसलिए रिश्वत दी, जिससे वह उसके पितृहत्या रूप पाप की भर्त्सना न करें और उसे इस अक्षम्य अपराध के लिए दण्ड न दें। उदयसिंह ने यह रिश्वत भी इस बेढंगेपन से दी कि वह किसी को कम और किसी को अधिक मिली। यह भेद-भाव भला कैसे सहा जा सकता था! जिन नरेशों को रिश्वत में थोड़ी रक़म प्राप्त हुई, उन्होंने उदयसिंह के विरुद्ध युद्ध करना शुरू कर दिया। उस समय मेवाड़-निवासियों ने उसकी कुछ सहायता न की, जिससे उदयसिंह को असहाय होकर गद्दी छोड़नी पड़ी।

निदान उदयसिंह को उसकी नीच करनी का फल मिल गया। उस समय पितृहत्या के पाप-पंक में सने, अपने हत्यारे हाथों और क्रूर हृदय का विकृत चित्र, उदयसिंह की आँखों के आगे नाचने लगा। "हा! हिन्दू धर्म में हत्यारे की कैसी दुर्दशा होती है, बाहर तो बाहर स्वयम् घरवाले भी, उसकी सहायता के लिए तैयार नहीं होते। पापिन तृष्णे! तू कहाँ है, तूने मेरे हाथों से कैसा नीच काम कराया! मुझे कितने पापाचार में प्रवृत्त किया!! हा स्वार्थराक्षस! आज तू तनक भी साथ नहीं देता। तेरे ही कारण मैं अकर्त्तव्य कर्म कर लोकापवाद का लक्ष्य और जनता की भर्त्सना का भाजन

बना। बता तू किस मरज़ की दवा है! क्या ऐसे आड़े वक्त में तुम दोनों मेरी सहायता नहीं कर सकते! क्या अब पिता की हत्या के पाप से मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी! क्या इस भयङ्कर अपराध से छुटकारा न होगा! प्रभो, दीनबन्धो! दीनानाथ! रक्षा करो, दया करो और मुझ पापी को पितृहत्या-रूप पाप से बचाओ!" परन्तु इस पश्चात्ताप से अब क्या हो सकता था।

उदयसिंह सिंहासन-च्युत होकर अपने पुत्र सूरजमल और शेषमल सहित इधर-उधर भटकता फिरा। जहाँ वह जाता वहीं उसके पितृहत्या रूप पाप की चर्चा होने लगती। जब उसे झख मारते बहुत दिन होगए और किसी ने उसे आश्रय न दिया तो, वह माँडू के सुलतान ख़िलजी से जा मिला। उस समय उदयसिंह ने इस बात की तनक भी परवा न की कि जिस सुलतान के माया-जाल में मैं अपने को फँसा रहा हूँ, वह मेवाड़ का सहज शत्रु है। चित्तौड़ को तबाह करने के लिए, वह निन्दनीय से निन्दनीय प्रयत्न कर रहा है। परन्तु स्वार्थान्ध व्यक्ति ऐसी बातों पर विचार नहीं करता। उसके लिए वंश-गौरव और जातीय अभिमान तुच्छ तथा स्वार्थ-साधन मुख्य बन जाता है। जिस उदयसिंह ने स्वार्थ-वश अपने पिता का बध करने में संकोच न किया, उसके द्वारा जो अनर्थ न हो, वही थोड़ा है। अस्तु, ख़िलजी सुलतान और उदयसिंह की गहरी दोस्ती गँठ गई तथा ख़िलजी ने प्रतिज्ञा की कि अगर उदयसिंह अपनी लड़की का विवाह मेरे साथ करदे, तो मैं मेवाड़ की गद्दी वापस दिलाने में उस की सहायता कर

सकता हूँ। उदयसिंह इस प्रस्ताव पर सहमत होगया, परन्तु परमात्मा को कुछ और ही मंज़ूर था। दैव की गति ऐसी हुई कि ज्योंही उदयसिंह ख़िलजी सुलतान के महलों से अपने स्थान को जाने लगा, त्योंही उस पर बिजली गिरी और वह जहाँ का तहाँ रह गया !

रणवीर रायमल

उदयसिंह के बाद उसके छोटे भाई रायमल सर्व सम्मति से मेवाड़ के सिंहासन पर विराजमान हुए। रायमल ने अपने बुद्धि-बल द्वारा, सब लोगों को पूर्णरूप से अनुकूल कर लिया था। जहाँ रायमल का पसीना गिरता, वहाँ उनके सामन्त रक्त की धारा बहा देते थे ! सम्पूर्ण मेवाड़ में रायमल के प्रति प्रेम की गंगा उमड़ रही थी, समीपवर्ती राजा-महाराजा भी उनसे मित्रता का व्यवहार करते और उन्हें प्रत्येक प्रकार की सहायता देने को तैयार रहते थे। रायमल ने राज-काज की बागडोर अपने हाथों में लेते ही, सेना को सर्वथा नवीन रूप दे दिया था। उनके आयुधागार की उन्नति देखकर, शत्रुओं के दिल दहलाने लगे थे। रणवीर राजपूत सिपाहियों के शौर्य से, वैरियों के छक्के छूट रहे थे। एक सुसंगठित शासन में जो बातें होनी चाहिएँ, वे सब रायमल के राज्य में दिखाई देती थीं। माँडू-सुलतान ख़िलजी रायमल का ऐसा उत्कर्ष देख कर मन ही मन कुढ़ा करता और चाहता था कि किसी प्रकार प्रपंच पसार कर मेवाड़ की राज-सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट किया जाय। ख़िलजी का 'दोस्त' उदय-

सिंह तो पहले ही काल-कवलित हो चुका था। अब उसने अपने परलोकगत मित्र से मित्रता निबाहने की एक नई तरकीब सोची। खिलजी ने उदयसिंह के सूरजमल और शेषमल नामक दोनों लड़कों को बुला कर, उन्हें उनके पिता की प्रतिज्ञा सुनाई और यह भी कहा कि "तुम मेरे साथ रहो, मैं अभी अपनी सेना सहित चित्तोड़ पर आक्रमण कर तुम्हारे पिता की गद्दी तुम्हें दिलाए देता हूँ। भला रायमल भी कोई चीज है! ऐसे तुच्छ लोग तो फूँक से उड़ा दिए जा सकते हैं। तुम लोग किसी बात की चिन्ता न करो; मैं तुम्हारे पिता की मित्रता पूरी तरह निबाहूँगा और तुम्हें तुम्हारी खोई हुई गद्दी दिला कर मानूँगा। रायमल तो अब थोड़े दिनों का महमान है, वह बेचारा कर ही क्या सकता है, सिंहासन के वास्तविक अधिकारी तो तुम ही लोग हो।"

उदयसिंह के बेटों के सामने घमण्ड-भरी बातें बघारने के बाद खिलजी सुलतान ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। रायमल को जब इस आक्रमण की सूचना मिली, तो उन्होंने भी क़िले से बाहर निकल कर सुलतान पर हमला कर दिया। सुलतान रायमल के आक्रमण को सहन न कर, बुरी तरह मैदान से भाग निकला। उसके बहुत से सिपाही तो लड़ाई में मारे गये। जो बचे, वे प्राण बचाकर इधर-उधर चम्पत हो गये! सुलतान ग़यासुद्दीन को इस पराजय से बड़ा लज्जित होना पड़ा, और वह इस भयङ्कर अपमान का बदला लेने के लिए गुप्त रूप से तैयारी करने लगा। जब सब तैयारी पूरी हो गई और आवश्यक सामग्री जुट गई, तो

उसने अपने सेनापति ज़फ़रख़ाँ को मेवाड़ के पश्चिमीय भाग की लूट-खसोट करने के लिए भेजा।

सेनापति ज़फ़रख़ाँ अपने को परम शक्तिशाली समझ, भयङ्कर स्वेच्छाचार करने लगा। वह जहाँ जाता वहीं लूट-मार करता और अपना अधिकार जमा लेता। जो नगर उसके रास्ते में पड़ा, उसे ही उसने तबाह किया, खेती-बारी उजाड़ दी और वहाँ के निवासियों का नाक में दम कर दिया। जब इस अनाचार की सूचना महाराणा रायमल को मिली, तो वे तुरन्त अपनी सेना समेत ज़फ़रख़ाँ से टक्कर लेने के लिए चल दिए। और भी कितने ही हिन्दू नरेशों ने उनकी सहायता की और वे उनके साथ हो लिए। मण्डलगढ़ के निकट राजपूत-सेना और मुसलमानों के मध्य युद्ध छिड़ गया। जो ज़फ़रख़ाँ थोड़ी देर पहले अपने को विश्व में सब से अधिक बलिष्ठ और विजयी समझ रहा था, वह वीर क्षत्रियों की निर्भय गर्जना से बुरी तरह काँप उठा। उसके प्रायः सभी शूर-सामन्त काम आगये, यवन सिपाहियों की लोथों से रणभूमि आच्छादित हो गई। चारों ओर रक्त की नदियाँ बहने लगीं और हड्डियों के ढेर लग गए। अपने सब सर्दारों के काम आजाने पर ज़फ़रख़ाँ भी भाग निकला। आगे-आगे ज़फ़रख़ाँ और पीछे रायमल की सेना! बड़ा विचित्र दृश्य था! अन्त में, ज्यों-त्यों कर, ज़फ़रख़ाँ माँडू पहुँचा। माँडू के निकट ही रायमल ने ख़ैराबाद नामक स्थान में लूट-मार मचादी। अब क्या था, लेने के देने पड़ गये! जो सुलतान चित्तौड़-विजय के लिए

लालायित हो रहा था, उसे अपने ख़ैराबाद तथा माँडू की रक्षा करना भी कठिन हो गया और वह चिन्ता-चिता में बुरी तरह से जलने लगा। बड़े सोच-विचार के बाद सुलतान ने महाराणा की सेवा में सन्धि-सन्देश भेजा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। राणा सुलतान से नज़राना लेकर चित्तौड़ वापस आगए। इस प्रकार माँडू के घमण्डी शासक ग़यासुद्दीन ने ज्यों-त्यों कर अपनी जान बचाई और राजपूत वीरों के खड्ग-प्रहार से बचे-खुचे सिपाहियों की रक्षा की। उस समय सुलतान ने यदि दूरदर्शिता से काम न लिया होता, तो न माँडू उसके पास रहता और न ख़ैराबाद की ख़ैर थी।

माँडू के अतिरिक्त दिल्ली के बादशाह ने भी चित्तौड़ पर चढ़ाई की, पर हमेशा उसे मुँह की खानी पड़ी। वह कई बार बड़ी तैयारी के साथ अपनी विशाल सेना लेकर, मेवाड़-विजय की लालसा से आया, पर महाराणा रायमल के प्रबल पराक्रम के आगे उसकी कुछ पेश न चली। राजपूत वीरों के सामने से दिल्लीश्वर की फ़ौज उसी भाँति तितर-बितर हो जाती, जिस तरह सूर्य की किरणों से अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। राणा रायमल के दोनों भतीजे शेषमल और सूरजमल भी जान गए कि जब दिल्ली और मालवा जैसी प्रबल शक्तियाँ ही राणा पर विजय पाने में सफल नहीं हो सकतीं, तो और किस की सामर्थ्य है, जो चित्तौड़ पर हमारा अधिकार स्थापित करा सके।

अन्त में निराश होकर दोनों भाई अपने काका महाराणा रायमल की शरण में आगए और उनसे उन्होंने अपने अपराधों की क्षमा माँग ली। इसके पश्चात् शेषमल और सूरजमल ने अनेक युद्धों में महाराणा की सेवा-सहायता की।

महाराणा रायमल ने अपने जीवन में न जाने कितने शत्रुओं को मार भगाया और कितनों के दाँत खट्टे कर दिये। जिसने मेवाड़ के विरुद्ध सिर उठाया, उसे ही राणा की कोपाग्नि में भस्म होना पड़ा। बड़े-बड़े विजयोन्मत्त नरेशों को क़ाबू में कर, उनसे कर वसूल करना, राणा रायमल का ही काम था। रायमल वीर और विद्वान् थे, शास्त्रों का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था, और वे परोपकारी भी ख़ूब थे। कितने ही स्थानों में राणा ने मन्दिर, धर्मशाला, कूप, बावड़ी और अनेक तालाब निर्मित कराये। राणा के रामसरोवर में, सुहावने सरोजों का विमल विकास दर्शकों के नेत्रों को अपार आनन्द प्रदान करता था। रायमल में सबसे अधिक विशेषता यह थी कि वह किसी की उन्नति और स्वतन्त्रता में बिल्कुल बाधक न होते थे। उनकी हार्दिक अभिलाषा रहती थी कि सब प्रसन्न रहें और किसी को अपने जीवन में दुःख न देखना पड़े। एक नरेश की ऐसी सद्भावना और मङ्गल-कामना से उसकी प्यारी प्रजा कितनी सन्तुष्ट तथा सुखी रह सकती है, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है।

प्रारम्भिक परिचय

महाराणा रायमल की न्याय-प्रियता और उनके प्रजा-प्रेम की बड़ी प्रशंसा थी। उनके शासन में प्रजा अपने को परम सन्तुष्ट और सुखी समझती थी। राणा की संघटन-शक्ति और राज-प्रबन्ध-शैली बड़ी ही न्यायोचित एवम् स्तुत्य थी। शत्रु के आक्रमणों को निरर्थक कर, अपने राज्य की उचित व्यवस्था करने में वह बड़े कुशल थे। गुणियों का आदर और धूर्तों का निरादर करने में राणा को कभी संकोच न होता था। अत्याचार-पीड़ित, असहाय और दीन दुखियों की प्रार्थना सुनने के लिए, उनके दरबार के द्वार सदैव खुले रहते थे। राणा रायमल की ग्यारह रानियों ने चौदह पुत्रों और दो कन्याओं को जन्म दिया था। उनके प्रथम पुत्र का नाम संग्रामसिंह (साँगा) और द्वितीय का पृथ्वीराज था। ये दोनों झाली रानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। रायमलजी के तीसरे बेटे का नाम जयमल था। इनके अतिरिक्त अन्य पुत्रों का हमारे चरित-नायक राणा साँगाजी की जीवन घटनाओं से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं रहा, अतः, उनके नामादि का उल्लेख अधिक आवश्यक नहीं।

राजकुमार पृथ्वीराज के प्रताप-चिह्न तो उनके शैशव काल में ही दिखाई देने लगे थे। ज्यों-ज्यों वह बड़े होते गये त्यों-त्यों उनका बल-पराक्रम भी विकसित होता गया। पृथ्वीराज के अदम्य उत्साह और निर्भय भाव ने प्रत्येक देशवासी के हृदय में

अपना घर कर लिया था। उनके वीर्य-शौर्य की चर्चा सर्वत्र बड़ी सराहना के साथ होती थी। वह वीर ही ऐसे बाँके थे कि उनका प्रताप-प्रभाकर एक दम चमक उठा और उसने अपनी अपूर्व आभा से सारे देश को जगमगा दिया। कहते हैं, पृथ्वीराज के फ़ौलाद से बने शरीर में अग्निमुख आत्मा का वास था। वे भय का नाम भी न जानते थे। कड़े से कड़े परिश्रम से भी थकना तो उन्होंने कभी सीखा न था। शत्रु-दल पर निर्भय सिंह की तरह टूट पड़ना और वैरियों के मान-मर्दन पूर्वक विजयश्री का आलिंगन करना उनके लिए साधारण-सी बात थी। पृथ्वीराज कर्मण्यता की मूर्ति और निर्भीकता के निकेतन थे। दूरस्थ प्रदेशों में पहुँच कर शत्रुओं को ललकारते हुए, उन पर अचूक आक्रमण करना, इस वीरवर की विशेषता थी।

जीत की रीति निराली होती है। किसी ने ठीक कहा है कि, वीरों का साथ देने के लिए विश्व तैयार हो जाता है, परन्तु कायरों की कोई बात भी नहीं पूछता। पृथ्वीराज के साथ भी यही व्यवहार हुआ। उनकी विजय-वैजयन्ती को आकाश में ऊँचा उड़ते देख, बड़े-बड़े शूर-सामन्त उनसे आ मिले और उनके संकेत मात्र पर समरांगण में मरने-मारने को तैयार हो गए। पृथ्वीराज जिधर मुँह करते उधर ही हज़ारों साथी उनके पीछे-पीछे चलते थे। उस समय इन सैनिकों के हृदय में एक ही भाव होता था और वह था, मर या मार कर, अपने जातीय गौरव की रक्षा करना। पृथ्वीराज के भाई

संग्रामसिंह भी बहादुरी में कम न थे, उनमें वीर भाव के साथ सहनशीलता भी अव्वल दरजे की थी। राणा रायमल के तृतीय पुत्र जयमल, वीर तो थे, परन्तु उनमें पृथ्वीराज के-से बल और संग्रामसिंह के समान उच्चाशयतापूर्ण उदारता का अभाव था।

बाल्यकाल में संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल तीनों भाइयों में बड़ा प्रेम था। वे परस्पर एक दूसरे के लिए प्राण देने को तैयार रहते थे। बड़ी-बड़ी संकटपूर्ण परिस्थितियाँ आईं, परन्तु इन तीनों भाइयों के अकृत्रिम अनुराग में तनक भी अन्तर न पड़ा। भाइयों का ऐसा अटूट स्नेहयुक्त व्यवहार देख कर सब को बड़ा हर्ष होता था। राजकुमारों की पारस्परिक ऐसी प्रगाढ़ प्रीति महाराणा रायमल के हृदय को हर्ष से ओत-प्रोत कर देती थी! परन्तु यह बात राणा के विरोधियों को कब अच्छी लग सकती थी! उनकी आँखों में तीनों राजकुमारों का ऐसा अभिन्न भाव काँटे की तरह खटकता रहता था। वे नहीं चाहते थे, कि इन तीनों के बीच, भ्रातृ-भाव की भव्य भागीरथी अधिक समय तक प्रवाहित रहे। कुछ ही दिनों बाद, सूरजमल नामक एक व्यक्ति ने राजकुमारों से मेल-जोल बढ़ाकर, बड़ी घनिष्ठता पैदा करली। राजकुमार भी उसे अपना सच्चा सखा, साथी और शुभचिंतक समझने लगे। सूरजमल मेवाड़ के भूतपूर्व राणा मोकल का पौत्र तथा क्षेमकरण का पुत्र था।

राणा रायमल के पिता राणा कुम्भाजी इन्हीं मोकल के बाद मेवाड़ की गद्दी पर विराजमान हुए थे। इस वंश-परम्परा

से सूरजमल राणा रायमल का भाई तथा पृथ्वीराज आदि राजकुमारों का काका लगता था। काका सूरजमल अपने भतीजों का भला करने के लिए उनका साथी न बना था, वह तो राजकुमारों के हृदयों में भिन्नता के भद्दे भाव भर कर, उन में फूट फैलाने के लिए आया था। जिस प्रकार सम्भव हो, इन भाइयों में, भेद-भाव डलवा कर अपना स्वार्थ-साधन किया जाय, यही सूरजमल की हार्दिक इच्छा थी। सूरजमल अपने विचारों में सफल हुआ, उसने तीनों भाइयों के निष्कपट हृदय-क्षेत्रों में विष-बीज बो दिया। जो पृथ्वीराज और जयमल अपने बड़े भाई संग्रामसिंह के विरुद्ध, स्वप्न में भी कोई कल्पना न कर सकते थे, वही सूरजमल के प्रबल प्रपंच में पड़ कर, मेवाड़ की गद्दी पर बैठने के लिए, अपनी-अपनी लालसा प्रकट करने लगे। उन्होंने इस बात को बिल्कुल भुला दिया, कि बड़ा राजकुमार होने के कारण संग्रामसिंह ही मेवाड़ के राज-सिंहासन का उचित अधिकारी है। उस समय दोनों भाइयों के हृदयों में जो भयङ्कर भावना काम कर रही थी, वह यह थी कि जब वीरता, साहस, विजय, बल और पराक्रम किसी बात में भी हम साँगा से कम नहीं हैं, तो वह ही मेवाड़ की राजगद्दी का अधिकारी क्यों समझा जाय, हम उस पर क्यों नहीं बैठ सकते!

ज्यों-ज्यों राजकुमारों की आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह भेद-भाव भी उनके हृदयों में गहरी जड़ जमाता गया। अन्त

को वह दुर्दिन आए बिना न रहा, जब तीनों भाइयों का पुनीत प्रेम और भ्रातृ-भाव वैर-विरोध के रूप में परिणत हो गया। राजकुमारों की इस अवाञ्छनीय और आकस्मिक फूट से महाराणा रायमल की चिन्ता का ठिकाना न रहा। देशोन्नति की लहलहाती लता पर, अवनति का तुषार गिर गया, और मेवाड़ के शुभ्र आकाश में विनाश की भयानक घटाएँ घहराने लगीं। राज-परिवार और राजकुमारों की जिस अविचल एकता की, एक दिन शत्रु भी सराहना करते थे, आज उसी प्रेम-पादप पर फूट-फल लटकते देख, मेवाड़ के शुभचिन्तकों और मित्रों के नेत्रों से ख़ून के आँसू बरसने लगे। हा! प्रेम के पुनीत प्रासाद पर वैर-वज्र कैसे गिर गया! स्नेह की रसवती सरिता सुखाने के लिए यह द्वेष-निदाघ कहाँ से आ गया! भगवान्! सूरजमल की संगति का ऐसा कुपरिणाम! उस काका कहे जाने वाले ईर्ष्यालु की ऐसी प्रचण्ड कूट नीति!!

बन्धु-विद्रोह

घर की फूट का परिणाम बहुत बुरा होता है, जब हृदयों में स्वच्छता नहीं रहती और प्रेम का स्थान मनोमालिन्य ले लेता है, तब सद्भाव के चिह्न भी शेष नहीं रह जाते। साधारण-सी बातों में शंका और दुर्भावना का उदय होने लगता है। यही बात इन राजकुमारों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हुई। तीनों भाइयों में मेवाड़ की गद्दी के लिए, मन-मुटाव बढ़ने लगा। प्रत्येक भाई अलग-अलग

अपने को उसका अधिकारी सिद्ध करने की चेष्टा करता था। अन्त को एक दिन बड़े वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि धर्मोपदेशिका चारणी के पास चलकर पूछा जाय और वह जिसके लिए आज्ञा दे, वही मेवाड़ की गद्दी पर बैठे।

सब से पहले पृथ्वीराज और जयमल धर्मोपदेशिका के मठ में पहुँचकर, एक चटाई पर बैठ गए। इनके बाद संग्रामसिंह आए और उन्होंने देवी के बैठने के बाघम्बर पर आसन जमाया। साँगा के पास ही कोने पर, घुटना टेक कर, सूरजमल भी बैठ गया। पृथ्वीराज अभी अपने आगमन का उद्देश्य भी न कह पाये थे, कि देवी ने बाघम्बर पर बैठे संग्रामसिंह की ओर संकेत करते हुए कहा—'बाघचर्म ही गद्दी का चिह्न है और साँगा उस पर बैठा है, इसलिए उसे ही गद्दी मिलनी चाहिए। हाँ, उसमें कुछ भाग सूरजमल का भी होगा, क्योंकि वह भी उसी आसन के एक कोने पर घुटना टेक रहा है।' देवी की यह व्यवस्था सुनकर, पृथ्वीराज के क्रोध का ठिकाना न रहा और उसने तलवार के एक ही प्रहार द्वारा साँगा का काम तमाम कर, देवी की भविष्यवाणी असत्य सिद्ध करने की चेष्टा की। परन्तु सूरजमल ने बीच में पड़कर, उस प्रहार को अपने ऊपर ले लिया। इस समय पृथ्वीराज को क्रोधान्ध हुआ देख चारणी देवी भी भयभीत होकर भाग गई। सूरजमल और पृथ्वीराज दोनों ही लड़ते-लड़ते मूर्छित हो गिर पड़े। पारस्परिक आघातों से दोनों ही के शरीर क्षत-विक्षत और लोहू-लुहान होगए थे।

सूरजमल के बीच में पड़ जाने से साँगा के प्राण तो बच गए, पर उसके शरीर में पाँच जगह घाव हो गये और उसकी एक आँख भी मारी गई। घावों के कारण साँगा की शक्ति बहुत क्षीण होगई थी। उसके शरीर से रुधिर-धार बह रही थी, ऐसी दशा में ही वह मठ से निकल कर समीपवर्त्ती एक गाँव को भाग गया। यहाँ मारवाड़ के वीदा नामक राठौर से अचानक उसकी भेंट होगई। बीदा, साँगा की ऐसी बुरी दशा देखकर बहुत दुखी हुआ। अभी साँगा अच्छी तरह साँस भी न ले पाया था, कि इतने ही में उसका पीछा करता हुआ जयमल भी वहाँ आ पहुँचा और बीदा ऊदावत से आतङ्कपूर्ण स्वर में कहने लगा—'ख़बरदार ! साँगा को शरण न देना, नहीं तो तेरा सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा। यह राज-बन्दी है। इसका स्थान तेरा घर नहीं बल्कि वह कारागार है, जिसमें आतताइयों को अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है।' बीदा ने जयमल की कुछ भी परवा न कर निर्भयता पूर्वक उत्तर दिया—'मैं अपना अतिथि आपके सुपुर्द नहीं कर सकता। साँगा जिस दयनीय दशा में मेरे पास पहुँचा है, उसे देखते हुए शरीर त्यागना तो मुझे मंज़ूर है, परन्तु उसे आपको देना स्वीकार नहीं। आप कड़े से कड़ा दण्ड मुझे दें, मैं उसे सहर्ष सह लूँगा, परन्तु एक क्षत्रिय के लिए यह कभी उचित नहीं है और न शोभा देता है कि वह प्राणदण्ड के भय से विपद्-ग्रस्त शरणागत व्यक्ति को आश्रय देने का विचार त्याग दे।' बीदा के स्पष्ट कथन से

जयमल को सन्तोष न हुआ और वह वहीं उससे युद्ध करने लगा। दोनों ओर से खूब खाँड़ा खटका और अन्त में बीदा को कर्त्तव्य-पालन करते हुए वीर-गति प्राप्त करनी पड़ी। इस लड़ाई में उसके दो बेटे भी काम आ गए।

बीदा और उसके दो बेटों ने जयमल की कोपाग्नि में पड़ वीर-गति तो प्राप्त की, परन्तु उन्होंने अपने आश्रित साँगा का साथ छोड़कर, अपने क्षात्रधर्म पर कलंक-कालिमा नहीं लगने दी। अतिथि-सत्कार और अभयदान के ऐसे ऊँचे उदाहरण भारत-भूमि में ही मिल सकते हैं। क्षत्रियों का इतिहास तो इस सुकार्य-कलाप से भरा पड़ा है। ये लोग अपने प्रतिज्ञा-पालन में शरीर की आहुति दे देना बहुत ही साधारण-सी बात समझते थे। उन्हें अपने जातीय गौरव और कुल-मर्यादा का जितना ध्यान रहता था, उतना शरीर-रक्षा का नहीं। अस्तु; वीर बीदा और उसके पुत्रों के प्राणोत्सर्ग के पश्चात् साँगा ने एक गड़रिये की नौकरी कर, गुप्त रूप से अपने प्राणों की रक्षा की। इन दिनों भेड़ों को चराना, उनकी देख-भाल करना और उन्हीं के साथ रहना साँगा का मुख्य कर्त्तव्य था। परन्तु गड़रिया इसके काम से सन्तुष्ट न था। उसने मेवाड़ के इस राजकुमार को, जिसने अपने पौरुष-पराक्रम द्वारा, बड़े-बड़े भयङ्कर शत्रुओं के दाँत खट्टे किए, भेड़ चराने योग्य भी न समझा! सच है, बुरे समय में सभी ढंग बुरे बन जाते हैं और गुण भी दोषों में बदलते दिखाई देने लगते हैं। बेचारे गड़रिये को क्या मालूम था कि वह

मेवाड़ के राजकुमार को, अत्यन्त अयोग्य समझ कर, अपने घर से निकाल रहा है और उसे उसकी क़िस्मत पर छोड़ रहा है। गड़रिये की नौकरी से अलग होकर, साँगा अज्ञात रूप से इधर-उधर दिन काटने लगा। परन्तु एक वीर ऐसी दीन-हीन दशा में, अधिक दिनों तक कैसे जीवन व्यतीत कर सकता था। एक दिन साहस पूर्वक साँगा अजमेर की ओर चल पड़ा, और वहाँ उसने एक घोड़ा तथा कुछ हथियार प्राप्त किये। सौभाग्य वश इसी समय अजमेर के पास परमार-सर्दार राव कर्मचन्द से उसकी भेंट हो गई।

कर्मचन्द से साँगा के मिलने की कथा इस प्रकार बताई जाती है, कि एक दिन साँगाजी अजमेर की ओर जा रहे थे। मार्ग में अम्बासर गाँव के समीप, थोड़ी देर विश्राम करने तथा कुछ खाने-पीने की इच्छा से ठहरे। घोड़े को बाँध, नौकर तो बस्ती से खाद्य सामग्री लेने चला गया और साँगाजी एक वृक्ष की सघन छाया में चारजामा बिछा कर लेट गए। कई दिन के थके तो थे ही, लेटते ही उन्हें नींद आ गई। कहते हैं, इतने ही में एक काला साँप कहीं से आया और सोते हुए राणा साँगा के सिर पर फन फैला कर खड़ा हो गया। संयोग से इसी समय, किसी कार्यवश घूमता-फिरता परमार, सर्दार कर्मचन्द वहाँ आ निकला, जहाँ राणा सोते थे। यह दृश्य देख कर्मचन्द स्तम्भित और चकित-सा रह गया। वह सोचने लगा—'यह ऐसा प्रतापी पुरूष कौन है, जिसकी सर्प छाया करते हैं। यह तो निश्चय ही चक्रवर्ती सम्राट् के

चिह्न हैं, इसके सिर पर तो राज-छत्र सुशोभित होना चाहिए। फिर यह व्यक्ति इस भाँति अकेला बिना किसी सामान के जंगल में क्यों सो रहा है।' कर्मचन्द अभी इस विचार-धारा में बहा ही चला जा रहा था, कि इतने में राणा का सेवक नगर से सामान ले कर आगया। जब कर्मचन्द ने नौकर से पूछा, तो उसे ज्ञात हुआ कि सोने वाले महापुरुष रायमल के ज्येष्ठ पुत्र राणा साँगा हैं। थोड़ी देर में जब साँगाजी जागे, तो, कर्मचन्द उनसे मिला और उन्हें अपने नगर को ले गया, साँगा तो अपने विपत्ति के दिन, किसी सुरक्षित स्थान में, अज्ञात रूप से रह कर, बिताना चाहते ही थे, वह तुरन्त कर्मचन्द के साथ हो लिये।

साँगा का सहायक कर्मचन्द परमार अजमेर से आठ-दस मील दूर श्रीनगर नामक स्थान में रहता था। इसके पास तीन सहस्र के लगभग वीर सिपाहियों का अच्छा संग्रह था। इतनी ही सेना द्वारा वह अपने इलाक़े में बड़ी सफलता के साथ शासन करता था। साँगा के सहयोग से तो उसके शासन-कार्य में और भी अधिक उन्नति हो गई, और वह अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझने लगा। कर्मचन्द साँगा को जिस काम के लिए भेजता, उसी में वह पूरी सफलता प्राप्त कर लौटते थे। जिन कामों के करने में स्वयं कर्मचन्द हिचकिचाता, उन्हीं को साँगा द्वारा अनायास सम्पन्न होते देख, उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहता था। वह मन ही मन साँगा के बल-विक्रम और बुद्धि-चातुर्य की प्रशंसा किया करता था। कर्मचन्द के यहाँ जितने

मुख्य-मुख्य शूर-सामन्त थे, उनमें किसी ने भी अपने आदरणीय कार्य-कलाप द्वारा आज तक वह प्रतिष्ठा प्राप्त न की थी, जो साँगा ने अपनी परिश्रम-शीतला और कार्य-दक्षता के कारण थोड़े ही दिनों में उपलब्ध कर ली। धीरे-धीरे कर्मचन्द को राणा साँगा के मेवाड़ छोड़ने और इस प्रकार अज्ञातवास करने का कारण भी विदित हो गया। कर्मचन्द साँगा के साथ सेवक-का-सा नहीं, प्रत्युत मित्र का-सा व्यवहार करता था। किन्हीं किन्हीं इतिहास-लेखकों का मत है कि कर्मचन्द ने साँगा के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया था। जो हो, पर यह निश्चय है कि कर्मचन्द ने साँगा को बड़ी इज्ज़त के साथ रक्खा और उसका गुप्त रहस्य किसी पर प्रकट न होने दिया। साँगा को भी कर्मचन्द की कोई शिकायत न थी। दोनों में पारस्परिक प्रेम तथा सद्भाव की वृद्धि होने लगी, और यह मैत्री-सम्बन्ध साँगा के बड़े भाई पृथ्वीराज के काल-कवलित होने तक बराबर बना रहा।

जयमल का जीवनान्त

मेवाड़ के तीनों राजकुमारों की पारस्परिक फूट के कारण संग्रामसिंह तो पहले ही चित्तौड़ छोड़ कर किसी अज्ञात स्थान को चला गया था। परन्तु जब राणा रायमल ने पृथ्वीराज द्वारा गद्दी के लिए अनधिकार चेष्टा किए जाने और संग्रामसिंह के

भागने की बात सुनी तो वे अत्यन्त दुखी हुए। राणा ने उसी समय पृथ्वीराज को बुलाकर देश से निकल जाने की आज्ञा दे दी, जिससे वह भी राजधानी छोड़कर गौड़वाड़ प्रदेश के नाँदोल नामक गाँव में रहने लगा। अब राणा के पास केवल जयमल रह गया था। बड़े राजकुमारों की अनुपस्थिति में लोग जयमल को ही चित्तौड़ की गद्दी का उचित अधिकारी समझने लगे। समस्त प्रजा की आँखें अब जयमल ही की ओर लगी हुई थीं। परन्तु अपनी अविचारशीलता के कारण वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सका और अकाल ही में एक राजपूत सरदार द्वारा मार डाला गया। जयमल के मारे जाने की घटना इस प्रकार बताई जाती है, कि उस समय टोंकटोड़ा के सोलंकी राव सुरतान का राज्य, लीला नामक एक पठान ने छीन लिया था। राज्य-भ्रष्ट होकर सुरतान मेवाड़ राज्य में चले गए और वहाँ अर्वली पहाड़ की तलहटी में बेदनूर नामक ग्राम को उन्होंने अपना आवास-स्थान बनाया। सुरतान रात-दिन अपने छिने हुए टोंक-टोड़ा के सिंहासन को पुनः प्राप्त करने की धुन में रहते थे। इसके लिए उन्होंने कई बार प्रयत्न किया, पर वह सफल-मनोरथ न हो सके। सुरतान के ताराबाई नाम की कन्या भी थी। ताराबाई जहाँ अनुपम सुन्दरी थी, वहाँ वीर और विदुषी भी थी। उसने बाल्यकाल से ही तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार घोड़े पर सवारी करना और हथियार चलाना सीखा था। वह तीर, तलवार, भाला आदि सभी शस्त्रास्त्रों के चलाने में किसी भी

वीर राजपूत से कम न थी। अचल लक्ष्य-बेधन, चल लक्ष्य-बेधन, चलाचल लक्ष्य-बेधन या उभयचल लक्ष्य-बेधन में उसने पूर्ण रूप से कुशलता प्राप्त की थी। घोड़ा दौड़ाने में तो वह अपना प्रतियोगी न रखती थी। घोड़े पर चढ़कर शत्रु-दल पर सिंहनी के समान टूट पड़ना, उसके लिए साधारण-सी बात थी। वह जिस समय रण-भूमि में पहुँच जाती, शत्रु उसके सामने से काई की तरह फट जाते थे। ताराबाई से मुक़ाबिला होते ही बड़े-बड़े वीरों के छक्के छूट जाते और वे उसके आक्रमण तथा अचूक आघातों से व्याकुल हो, मैदान छोड़कर भागने लगते थे। जहाँ कहीं वीरों की गणना होती, वहाँ ताराबाई का नाम सबसे प्रथम लिया जाता।

ताराबाई का वाह्य स्वरूप जितना सुन्दर था, अन्तःकरण उससे भी अधिक पवित्र था। उसमें वीरता, साहस, निर्भयता आदि वीरोचित गुणों के साथ ही दया, पवित्रता, शील, लज्जा आदि नारी-सुलभ गुणों का भी बाहुल्य था। ताराबाई के सद्‌गुणों की ख्याति भाट-चारणों द्वारा दूर-दूर तक फैल गई थी, इसलिए अनेक देशों के राजकुमार उसके साथ विवाह करने की इच्छा रखते थे। मेवाड़ के राजकुमार जयमल भी ताराबाई की प्रशंसा सुन कर उस पर मुग्ध हो गये, और उसके साथ विवाह करने के लिए अधीर हो उठे। जयमल को उस समय ताराबाई की चर्चा के अतिरिक्त और कोई बात अच्छी न लगती थी। उन्हें खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते सदैव उसी का ध्यान बना रहता था।

जयमल ने बहुत कुछ चाहा कि सुरतान ताराबाई का विवाह उसके साथ कर दे, परन्तु जब उसने अपना मनोरथ पूर्ण होते न देखा, तो स्वयं ताराबाई के समीप पत्र द्वारा सन्देश भेजा। जयमल ने लिखा—'देवि, मैं तुम्हारे प्रेम-दान का भिक्षुक हूँ। मेरी हार्दिक अभिलाषा है, कि तुम मुझे अपने हृदय में स्थान देकर कृतार्थ करो। तुम को अपनी प्रियतमा हृदयेश्वरी के रूप में देखकर, मुझे जो स्वर्गीय आनन्द उपलब्ध होगा, उसकी कल्पना-मात्र ही बड़ी आनन्ददायिनी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम मेरा मनोरथ सफल करोगी, और किसी प्रकार निराश न होने दोगी।'

ताराबाई ने जयमल का यह प्रस्ताव बड़े ध्यान से पढ़ा, और उसने स्पष्ट शब्दों में लिख भेजा, कि यदि आप पठानों द्वारा छीने हुए हमारे पुरुषाओं के टोंकटोड़ा नामक स्थान को वापस दिला दें, तो मैं आपके साथ विवाह कर सकती हूँ।

जयमल को यह शर्त्त मानने में क्या आपत्ति हो सकती थी, उसने तुरन्त स्वीकृति दे दी। जयमल ने ताराबाई से उसके पुरुषाओं का खोया हुआ राज्य वापस दिला देने की प्रतिज्ञा करके, उसे पूर्ण किए बिना ही, उससे मिलना चाहा। जयमल की यह अनधिकार चेष्टा राव सुरतान से सहन न हो सकी। सुरतान ने विवाह होने से पूर्व अपनी कुमारी कन्या से जयमल का मिलना अपमान जनक समझा, और उसने बिना इस बात

को सोचे-विचारे, कि जयमल के पिता राणा रायमल एक शक्तिशाली नरेश हैं, और मैं स्वयं उन्हीं की अधीनता में रहता हूँ—जयमल को मार डाला। सुरतान इस बात को भली भाँति जानता था, कि जयमल के बध का समाचार जब राणा रायमल के पास पहुँचेगा, तो वह मुझे भी प्राण-दण्ड दिये बिना न रहेंगे, फिर भी उसने अपनी मान-मर्यादा के आगे प्राणों की कुछ भी परवा न की। सच है, वीर राजपूत अपनी प्रतिष्ठा को प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते हैं। उनकी दृष्टि में प्राणों की बलि देकर अपने धर्म तथा जातीय गौरव की रक्षा करना मुख्य है। कहते हैं, पीछे जब राणा रायमल को जयमल के मारे जाने की सूचना मिली, तो वह सुरतान पर क्रुद्ध नहीं हुए, बल्कि उन्होंने अपने पुत्र की निन्दा करते हुए सुरतान के काम को उचित ही बताया।

पृथ्वीराज का पौरुष

महाराणा रायमल ने जब राजकुमारों के दुर्भाव की बात सुनी, और उन्हें उनकी पारस्परिक प्रबल शत्रुता का पता लगा, तो वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने पृथ्वीराज से साफ़-साफ़ कह दिया कि तुम्हारा मेवाड़ में कुछ काम नहीं, चाहे जहाँ घूमो और अपने बाहु-बल से काम लो। पृथ्वीराज महाराणा का आदेश सुनकर कुछ साथियों समेत तुरन्त मेवाड़ से चल दिए, और गौड़वाड़ राज्य में पहुँचे। उदयसिंह की निर्बलता और मेवाड़-राज-परिवार की फूट से, वहाँ के शासन का काम बहुत शिथिल होगया था।

इतना शिथिल कि लूट-खसोट करने वाली जंगली जातियों की दृष्टि में भी उसकी कोई प्रतिष्ठा न रही थी। जिसका जी चाहता, वही गाँवों पर आक्रमण करता और लूट-मार कर सारा माल-असबाब उठा ले जाता था। गौड़वाड़ की प्रजा इन आततायियों के अत्याचारों से बड़ी ही त्रस्त थी। उसे रात-दिन में किसी समय भी निश्चिन्त हो सुखपूर्वक बैठने का अवसर प्राप्त न होता था। पृथ्वीराज ने निश्चय किया कि जिस प्रकार सम्भव हो, इन राज-विद्रोहियों को दबा कर यहाँ की शासन-व्यवस्था ठीक करनी चाहिए। इसके दो फल होंगे, गौड़वाड़ की प्रजा सुख की नींद सोवेगी और महाराणा को मेरी वीरता, प्रबन्ध-शक्ति, तथा स्वातन्त्र्य प्रियता देखकर प्रसन्नता होगी। पृथ्वीराज ने अपने विचार को तुरन्त ही कार्य-रूप में परिणत किया। इस समय गौड़वाड़ प्रान्त में जंगली मीना जाति का एक सरदार शासन करता था। इन मीनाओं ने सम्पूर्ण गौड़वाड़ में उत्पात मचा रक्खा था। मीना-सरदार ने अपनी शक्ति खूब संगठित कर रक्खी थी। अनेक राजपूत वीर भी इसकी सेना में नौकर थे। पृथ्वीराज ने मीना-सर्दार को वश में कर, गौड़वाड़ प्रान्त की प्रजा को संकट से छुड़ाने में बड़े कौशल से काम लिया। पहले वह स्वयं भी अपने राजपूत साथियों सहित मीना रावत की सेना में भर्ती होगया, और वहाँ उसने दूसरे राजपूत सिपाहियों को बहका-फुसला कर अपने अनुकूल कर लिया। इस भाँति गुप्त षड्यन्त्र रच, पृथ्वीराज किसी सुयोग की प्रतीक्षा करने लगा।

मीनाओं के यहाँ 'अहेरिया' नामक एक उत्सव होता था। उस समय सब सनिकों तथा दूसरे नौकरों को भी अपने-अपने घर जाने की छुट्टी मिला करती थी। पृथ्वीराज ने यही अवसर अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिए उपयुक्त समझा। उस समय और सब लोग तो छुट्टी पाकर घरों को जाने लगे, परन्तु पृथ्वीराज अपने राजपूत साथियों सहित घर न जा कर, वहीं समीप के एक जंगल में छिप रहा। जब सब मीना लोग चले गए और उस गाँव में वहाँ के निवासी ही रह गए, तब पृथ्वीराज ने अपने साथी वीर राजपूतों को लेकर मीना रावत पर धावा बोल दिया। उधर यह मीना-सरदार जो त्यौहार की .खुशी में राग-रंग कर रहा था, अचानक राजपूतों का आक्रमण देख, घबरा गया। उससे कुछ करते-धरते न बना और वह जान बचा कर भाग निकला। पृथ्वीराज ने मीना रावत का पीछा किया और अवसर मिलते ही तलवार का ऐसा हाथ मारा कि उसका सिर एक ओर लुढ़कने लगा। पृथ्वीराज ने उस गाँव में भी आग लगवादी, जिससे लोगों में भगदड़ मच गया। जो मीना लोग राजपूतों के हाथ पड़ गए वे सभी तलवार के घाट उतार दिए गए। बहुत थोड़े लोग राजपूतों की दृष्टि से बचकर प्राण-रक्षा कर सके। इसी भांति दूसरे गाँवों में भी आतंक स्थापित कर पृथ्वीराज ने समस्त गौड़वाड़ पर अपना अधिकार जमा लिया।

पृथ्वीराज के साम, दाम, दण्ड, भेद के चक्र में पड़ कर लुटेरों का स्वतंत्र रहना कठिन होगया, और धीरे-धीरे प्रायः सभी

जंगलियों ने उसकी वशवर्तिता स्वीकार कर ली। अब किसका साहस था, जो गौड़वाड़ या उसके निकटवर्त्ती स्थानों में आकर अपनी स्वेच्छाचारिता दिखाता और निरीह प्रजा को कष्ट पहुँचाता। पृथ्वीराज के इस सुप्रबन्ध से लोगों को बड़ा सन्तोष हुआ और सब उसकी प्रशंसा करने लगे। गौड़वाड़ में चारों ओर शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगया और प्रजा सुख की नींद सोने लगी। पृथ्वीराज का उद्देश्य गौड़वाड़ में बस कर शासन करना नहीं था, वह तो केवल अपना पौरुष-पराक्रम दिखाने और शान्ति स्थापित करने के लिए ही इधर आया था। जब शासन सम्बन्धिनी सारी व्यवस्था ठीक होगई, तो पृथ्वीराज ने गौड़वाड़ का सारा कार्य-भार उसके असली अधिपति ओझा और सोलङ्की सरदारों को बुलाकर उन्हें सौंप दिया।

राणा रायमल ने जब पृथ्वीराज के पौरुष-पराक्रम की कथा सुनी तो वे उससे बड़े प्रसन्न हुए। उधर जयमल बेदनूर के राव सुरतान के हाथों मारा जा चुका था, और संग्रामसिंह का कहीं पता न था, इसलिए राणा रायमल ने पृथ्वीराज के सब अपराधों को क्षमा कर उसे चित्तौड़ बुलाया। पृथ्वीराज अपने पिता की आज्ञा पाते ही तुरन्त चित्तौड़ में आ उपस्थित हुआ और राज-काज में राणा को साहाय्य देने लगा।

गौड़वाड़ की सुव्यवस्था कर देने के कारण पृथ्वीराज का यश बहुत फैल चुका था। सर्वत्र पृथ्वीराज की वीरता और शासन-पटुता की प्रशंसा होने लगी थी। चारण लोगों ने उसकी

कीर्ति दशों दिशाओं में फैला दी थी। ताराबाई भी पृथ्वीराज के वीरोचित कार्य-कलाप से भले प्रकार परिचित थी, वह उसके लिए एक आकर्षण बन चुका था। उधर पृथ्वीराज ने भी ताराबाई के कारण अपने भाई जयमल के बध होने का सारा वृत्तान्त सुन लिया था। दोनों में पारस्परिक प्रेम की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी और वह एक दूसरे को प्राप्त करने के लिए अधीर हो रहे थे। ताराबाई ने पृथ्वीराज के आगे भी वही पहली शर्त पेश की— अर्थात् यदि अफ़ग़ानों से उनका टोंकटोड़ा वापस करा दिया जाय, तो वह उसके साथ विवाह करने को तैयार है। पृथ्वीराज ने यह शर्त मंजूर कर ली और उसके साथ ताराबाई का विवाह हो गया।

विवाह के पश्चात् सबसे पहले पृथ्वीराज का कर्त्तव्य था कि वह अफ़ग़ानों द्वारा छीना हुआ टोड़ा प्रदेश ताराबाई के पिता को वापस दिलाता। इसी प्रतिज्ञा-पूर्ति के उद्देश्य से उसने पाँच सौ सवार लेकर टोड़ा पर चढ़ाई कर दी। ताराबाई भी मरदाना वेश धारण कर अपने पति के पीछे-पीछे चलदी। पृथ्वीराज ने ताराबाई से युद्ध में चलने को मना किया, पर वह वीर क्षत्राणी ऐसे सुअवसर को भला कब छोड़ने वाली थी। युद्ध के लिए तो उसका हृदय उमंगें लिया करता था। उसने पृथ्वीराज से कहा—"प्राणनाथ, आप मुझे युद्ध-भूमि में साथ चलने से न रोकिए। वहाँ मैं यदि आपकी कुछ सहायता न कर सकूँगी, तो आप पर भारभूत हो कर भी न रहूँगी। आपको युद्ध में मेरी रक्षा के लिए चिन्तित न होना पड़ेगा। मैं यह जानते हुए, कि

स्त्री पति की अर्धाङ्गिनी है, अतः उसे पति के सुख-दुःख में बराबर भाग लेना चाहिए, यह नहीं कर सकती कि आपको शत्रु से लड़ने के लिए चला जाने दूँ और मैं सुखपूर्वक घर बैठी रहूँ। प्राणेश्वर, आप रण-क्षेत्र में देखेंगे कि यह दासी वहाँ भी आपकी सेवा-सहायता कर सकने की सामर्थ्य रखती है। मैं टोंकटोड़ा के गली-कूचों तथा लीला पठान से भली भाँति परिचित हूँ, इसलिए उसके बध करने में आपको मुझ से कुछ न कुछ सहायता ही मिलेगी।" पृथ्वीराज ताराबाई के अनुरोध को टाल न सका और उसने उसे साथ चलने की अनुमति दे दी।

उस समय मुहर्रम का महीना था, टोड़ा में ताज़िए निकल रहे थे। हज़ारों मज़हबपरस्त मुसलमानों का ठट्ठ लगा हुआ था। 'हाय हुसैन' की आवाज़ से आकाश फटा जा रहा था। ऐसे समय में पृथ्वीराज अपने रिसाले को एक तरफ़ छोड़ कर, ताराबाई और एक मित्र के साथ मुसलमानों की भीड़ में चला गया। ज्योंही वहाँ के मुसलमान शासक की दृष्टि इन लोगों पर पड़ी और उसने पूछा कि ये कौन हैं, त्यों ही पृथ्वीराज के भाले और ताराबाई के तीर ने उसका काम तमाम कर दिया। वह अफ़ग़ान तड़पता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा और थोड़ी ही देर में छटपटा कर उसने वहीं प्राण छोड़ दिये। जब इस दुर्घटना की ख़बर मुसलमानों को लगी और वे इकट्ठे होने लगे, तो उपर्युक्त तीनों सवारों ने अपने घोड़ों का रुख़ दूसरी ओर कर दिया—वे नगर छोड़ बाहर की ओर चल दिये। परन्तु टोड़ा का दरवाज़ा

एक भीमकाय हाथी द्वारा रुका हुआ था। इस पशु की भयंकरता के कारण उधर जाने का साहस करना कोई मामूली काम न था, जो व्यक्ति दरवाज़े में घुसने की चेष्टा करता, उसे ही यह गजराज अपने भयंकर शुण्ड से उठाकर धरती पर पटक देता था! अब पृथ्वीराज और उनके दोनों साथियों के सामने बड़ी विकट परिस्थिति उपस्थित हुई। इधर मुसलमानों की इतनी बड़ी भीड़ द्वारा प्राण-हानि का भय और उधर दरवाज़े पर ऐसी रुकावट। अन्त में ताराबाई ने उस विशाल गजराज के शुण्ड पर अपने प्रचण्ड खाँड़े का ऐसा प्रबल प्रहार किया कि उसके दो टुकड़े हो गये। हाथी चिंघाड़ता हुआ एक ओर भाग गया, जिससे पृथ्वीराज को रास्ता मिल गया और वह पास ही खड़े अपने रिसाले में पहुँच गये। उधर अफ़ग़ान अपने सर्दार के मारे जाने के कारण उन्मत्त-से हो उठे और उन्होंने तुरन्त पृथ्वीराज के रिसाले पर आक्रमण कर दिया। बहुत देर तक दोनों ओर से वाण-वर्षा होती रही, अन्त में राजपूतों के आक्रमणों को न सहार कर मुसलमान पीछे हट गये। जिन अफ़ग़ानों ने पीछे हटना उचित न समझा, वे राजपूत सर्दारों की तलवारों से टुकड़े-टुकड़े होकर धरती पर छटपटाने लगे। इस प्रकार पृथ्वीराज ने टोड़ा पर सोलंकियों का अधिकार करा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

राव सुरतान का यवनों द्वारा छीना हुआ राज्य उन्हें वापस दिला कर, पृथ्वीराज अपनी पत्नी ताराबाई सहित चित्तौड़ में आए और सुख पूर्वक रहने लगे। पृथ्वीराज जैसे पराक्रमी और

वीर थे, वैसे ही स्वाभिमानी भी थे। वे अपने शत्रुओं–विशेष कर यवनों द्वारा किए गए व्यवहार को सदा याद रखते थे। जिस से एक बार शत्रुता हो जाती, उससे वह सदैव सतर्क रहते थे। अपने वंश के पुराने शत्रुओं से भी पृथ्वीराज हमेशा जलते और उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश करते रहते थे। एक दिन की बात है, मेवाड़ की गद्दी के पुराने शत्रु मालवा-सुलतान का दूत किसी कार्यवश चित्तौड़ आया। राणा रायमल अपने दब्बू एवं सरल स्वभाव के अनुसार उसके साथ बड़ी सादगी से बात-चीत करने लगे। इसी समय पृथ्वीराज भी दरबार में आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि, अपने पूर्व पुरुषाओं द्वारा कई बार परास्त किए गए, तथा छह मास तक बन्दी बना कर रक्खे गए मालवाधीश्वर के दूत से, पिताजी समानता का-सा बर्ताव कर रहे हैं। राणा को दूत के साथ बड़ी सादगी से बात-चीत करते देख पृथ्वीराज के बदन में एक दम आग-सी लग गई। वह तुरन्त आवेश में आकर बोले—"पिताजी, एक पराजित शत्रु के सेवक से इस प्रकार बात-चीत करना चित्तौड़ के महाराणा को शोभा नहीं देता।" पुत्र की बात सुन राणा सिट-पिटा गए, और कुछ देर में अपने को सम्हाल कर कहने लगे—"पुत्र, मालवा-सुलतान जब हमारा शत्रु था, तब था, जिस ने उसे बन्दी बना कर रक्खा, उसने रक्खा; परन्तु अब तो वह एक शक्तिशाली शासक है, हमें उस के साथ समता का ही व्यवहार करना चाहिए।" इस पर पृथ्वीराज रोष

तथा जोश-भरे स्वर से बोले—"पिताजी, आप आज यह क्या कायरों की-सी बातें करते हैं। मालवा-सुलतान अब भी चित्तौड़ की गद्दी का बन्दी है, आप जब कहें तभी उसे लाकर आपके चरणों में उसकी नाक रगड़वाई जा सकती है! उस तुच्छ यवन की क्या हैसियत जो चित्तौड़ के राणा की बराबरी कर सके!"

पृथ्वीराज की इस प्रकार जोश-भरी बातें सुन राणा रायमल ने कहा—"बेटा, आदमी को वह बात कहनी चाहिए, जो सत्य प्रमाणित की जा सके। यह मैं जानता हूँ कि तुम वीर हो, अनेक छोटी-मोटी शक्तियों पर तुमने विजय भी पाई है, पर मालवा-सुलतान के सम्बन्ध में तुम्हारी ऐसी बातें मुझे बिल्कुल ठीक नहीं जँचतीं। उससे लड़ाई मोल लेकर, उस पर विजय पा लेना हँसी-खेल नहीं है।" राणा रायमल की उक्त बातों से तो पृथ्वीराज का क्रोध और भी अधिक बढ़ गया, और वे तुरन्त उठकर खड़े हो गये। उस समय मारे क्रोध के पृथ्वीराज के ओठ फड़क रहे तथा उनकी आँखों से अँगारे बरस रहे थे। वह पैर पटकते हुए कहने लगे—"अच्छी बात है, अब मैं जब मालवाधीश्वर को क़ैद कर लाऊँगा, तभी आप को मुँह दिखाऊँगा।" इतना कह पृथ्वीराज तुरन्त दरबार से उठ गए, और अपने चुने हुए राजपूत योद्धाओं को साथ ले, उसी समय नीमच की ओर चल दिए।

पृथ्वीराज ने नीमच पहुँच कर वहाँ के राजपूतों को अपनी भीषण प्रतिज्ञा सुनाई, जिसे सुनते ही पाँच हज़ार वीर योद्धा उनके सहायतार्थ वहाँ आ उपस्थित हुए। इन सब को साथ ले, पृथ्वीराज ने मालवा की जागीर देपालपुर नामक नगर पर धावा बोल दिया और वहाँ के जागीरदार को परास्त कर, उस पर अपना अधिकार जमा लिया। उधर मालवा-सुलतान ने पृथ्वीराज द्वारा देपालपुर पर अधिकार किये जाने की बात सुनी, तो वह तुरन्त अपनी सेना सहित पृथ्वीराज को दण्ड देने के लिए चल पड़ा। पृथ्वीराज ने भी उसे मार्ग में ही जा घेरा और रात्रि के समय, जब मालवा-सुलतान डेरा डाले निश्चिन्त विश्राम कर रहा था, उसकी छावनी पर आक्रमण कर दिया। यवन सैनिक जब तक सँभले-सँभलाये, तब तक वीर राजपूतों ने सुलतान को पकड़ अपने क़ब्ज़े में कर लिया। मुसलमान सिपाही यह देखकर बहुत घबराये और वे अपने बादशाह को राजपूतों से छुड़ाने के लिए, उन पर हमला करने का विचार करने लगे। इसी समय पृथ्वीराज ने उन सब को सम्बोधन करते हुए कहा—"ख़बरदार! हम लोगों पर आक्रमण करने के लिए अपनी जगह से एक क़दम भी आगे मत बढ़ना! यदि ऐसा करोगे, तो हम उसी समय तुम्हारे सुलतान का काम तमाम कर देंगे! फिर तुम्हारे हाथ क्या लगेगा। विश्वास रक्खो, हम सुलतान को कुछ भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते, और न हमारा विचार मालवा पर अपना अधिकार करने का है। हम तो केवल एक

कार्य विशेष के लिए तुम्हारे स्वामी को चित्तौड़ ले जाना चाहते हैं। काम हो जाने पर हम उसे सुरक्षित मालवा पहुँचा देंगे। अब तुम लोग हमें जाने के लिए मार्ग छोड़ दो। ध्यान रहे, यदि तुम में से किसी ने भी सुलतान को छुड़ाने या हम लोगों को क्षति पहुँचाने की तनक भी चेष्टा की, तो उसी क्षण मेरी यह चमचमाती हुई कटार तुम्हारे बादशाह की छाती में पार हो जायगी! इस प्रकार अपने सुलतान के बध के अपराधी तुम्हीं लोग होगे।"

पृथ्वीराज ने उपर्युक्त बातें कुछ ऐसे ढंग से कहीं, कि यवनों पर उसका आतंक छा गया तथा सिपाहियों को उन पर विश्वास हो गया। यवन सैनिकों ने परस्पर परामर्श करके पृथ्वीराज को जाने के लिए मार्ग दे दिया। राजपूत लोग मालवा-सुलतान को ऊँट पर बिठा कर चित्तौड़ चल दिए। वहाँ पहुँच, पृथ्वीराज ने सुलतान को अपने पिता के सामने उपस्थित कर, उनके पैरों में उससे नाक रगड़वाई और बोले—"पिताजी, कहिए अब भी मालवाधीश्वर आपका बन्दी है या नहीं।" राणा रायमल अपने पुत्र के इस साहस और पौरुष को देखकर अति प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर पृथ्वीराज ने सुलतान को एक मास तक अपने यहाँ क़ैदी बना कर रक्खा और फिर उसे अपनी प्रतिज्ञानुसार मालवा पहुँचा दिया।

इसके बाद भी पृथ्वीराज को बड़े-बड़े युद्ध करने पड़े। कभी उसने मुसलमानों से लोहा लिया और कभी मालवा के राजपूतों के

दाँत खट्टे किये। जिसने सिर उठाया उसी पर वह भूखे सिंह की तरह टूट पड़ा। पृथ्वीराज में संगठन करने की योग्यता बहुत बढ़-चढ़कर थी। उसकी एक आवाज़ पर हज़ारों राजपूत एकत्र होजाते और मरने-मारने को उद्यत रहते थे।

विचित्र वैर

चारणी देवी के मठ में बाघम्बर पर बैठ कर, मेवाड़-राज्य के आंशिक अधिकारी बनने वाले काका सूरजमल, अनेक युद्धों में पृथ्वीराज के सच्चे सहायक और हार्दिक हितैषी रहे, पर उनके हृदय में चारणी देवी का आशीर्वाद कार्य रूप में देखने की लालसा हरदम बनी रहती थी। उनके मन में राज्य का लालच उत्पन्न हो चुका था, इस कारण वह उसकी प्राप्ति के लिए यथा-शक्ति उद्योग करते ही रहते थे। जब किसी प्रकार काका सूरजमल अपने प्रयत्न में कृतकार्य न हुए, तो उन्होंने मालवा के सुलतान की शरण ली। मालवाधीश्वर भी सूरजमल की सहायता के लिए तुरन्त उद्यत होगया और अपनी शक्ति शालिनी सेना ले, उसने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। सुलतान ने खातरी, सादड़ी, नाई और नीमच के मध्यवर्ती प्रदेश को जीत लिया, जिससे उसका उत्साह और भी बढ़ गया।

उधर जब राणा रायमल ने सुना कि सूरजमल ने मालवा-सुलतान की सहायता से चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी, तथा मेवाड़ के दक्षिण भाग में उसने उपद्रव मचा रक्खा

है, तो वह शीघ्रता से अपनी सेना सजा, विद्रोहियों का दमन करने के लिए चल दिए। गंभीरी नदी पर राणा की सुलतान से मुठभेड़ हुई। राजपूत और यवनों का मुक़ाबिला होते ही, दोनों ओर से तलवारें तन गईं और खाँड़े खिंच गए, तथा घमासान युद्ध होने लगा। थोड़ी ही देर में लोथों से युद्ध-भूमि पट गई और वहाँ रुधिर की नदी बहने लगी। चारों ओर से मारो-मारो की ही आवाज़ सुनाई पड़ती थी। कुछ काल तक राणा बड़ी वीरता से लड़े, पर जब उनका शरीर घावों से भर गया, तो वे मूर्छित होने लगे। इस युद्ध में रायमल की शक्ति बहुत क्षीण होगई, उनके बहुत से वीर योद्धा लड़ाई में काम आगए। बहुत सम्भव था, कि राजपूत सैनिकों के पैर उखड़ जाते, किन्तु इतने ही में पृथ्वीराज एक सहस्र योद्धा लेकर कहीं से अचानक वहाँ आगए, और सूरजमल की सेना पर टूट पड़े। दिन छिपे तक युद्ध होता रहा परन्तु दोनों सेनाओं में से किसी ने भी हार नहीं मानी। सूर्यास्त होते ही युद्ध बन्द कर दिया गया और दोनों फ़ौजें पास ही पास पड़ाव डाल, विश्राम करने लगीं।

पृथ्वीराज जानते थे कि सूरजमल का हमसे हार्दिक द्वेष नहीं है, वह केवल राज्य-प्राप्ति के लिए ही लड़ रहा है। यही सोच कर वह रात्रि के समय सूरजमल से मिलने गए। पृथ्वीराज को सूरजमल के पास जाने में किसी प्रकार का भय या सन्देह नहीं हुआ। वह निस्संकोच भाव से उसके डेरे में घुस गए।

सूरजमल उस समय एक चिकित्सक से अपने घाव सिलवा कर उनमें औषधि लगवा रहे थे। पृथ्वीराज को देखते ही वह बड़ी प्रसन्नता से उठे और गले लगाकर अपने भतीजे से मिले। उनके उस समय के मिलने को देख तथा परस्पर आगे होने वाली बातों को सुन, कोई भी यह न कह सकता था, कि अभी सूर्यास्त से पूर्व ये दोनों एक दूसरे की जान के ग्राहक बने हुए होंगे। पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर पृथ्वीराज ने पूछा—"कहिए काकाजी, आपके घावों का क्या हाल है।"

सूरजमल—"बेटा, अभी कुछ क्षण पूर्व तो मेरे घाव मुझे बुरी तरह पीड़ा पहुँचा रहे थे, पर अब तुम्हें देखकर वे सब सूख गए।"

पृथ्वीराज—"काकाजी, क्या आप भोजन कर चुके? यदि नहीं, तो मँगाइये, मुझे भी भूख लगी है।"

"बहुत अच्छा" कहकर सूरजमल ने भोजन मँगाया और दोनों काका-भतीजों ने एक ही थाल में खाया। भोजन करते हुए पृथ्वीराज बोले-"काका, मेरा विचार है कि कल जितनी जल्दी हो सके युद्ध समाप्त कर दिया जाय।" इस पर सूरजमल ने उत्तर दिया—"अच्छी बात है, अपने सैनिकों को शीघ्र सचेत करना, मैं भी सूर्योदय से पूर्व ही तैयार हो जाऊँगा।" इसके अनन्तर पृथ्वीराज अपने डेरे को चले गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही दोनों ओर की सेनाएँ मैदान में आ डटीं और घमासान युद्ध होने लगा। अनेक वीर राजपूत रणचण्डी

की भेंट होगए। अन्त में सूरजमल पृथ्वीराज के आगे युद्ध में ठहर न सके। उनके साथी सारंगदेव के शरीर में पैंतीस घाव आए, जिससे वह मूर्छित होगया। यह देख सूरजमल और भी घबरा गए और वह सारंगदेव को लेकर सादड़ी की ओर भाग निकले। उस समय पृथ्वीराज यदि सूरजमल का पीछा करते, तो सम्भव था उसी समय उनके व सूरजमल के वैर का अन्त हो जाता, परन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक न समझा। इसके पश्चात् और भी कई बार सूरजमल और पृथ्वीराज दोनों की लड़ाई हुई, परन्तु पृथ्वीराज ने मेवाड़ की चप्पा-भर भूमि भी सूरजमल के हाथ नहीं लगने दी। काका-भतीजों में दिन-रात लड़ाई छिड़ी रहती थी, पर जब दोनों मिलते तब बड़े स्नेह और अभिन्न भाव से बात-चीत करते थे। उस समय कोई भी यह न कह सकता था कि इन दोनों में कभी स्वप्न में भी विरोध हो सकता है।

रात-दिन की लड़ाई के कारण सूरजमल की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। यहाँ तक कि अब उन्हें सारंगदेव के साथ एक जंगल में छिपकर अपनी प्राण-रक्षा करनी पड़ती थी। एक दिन सारंगदेव और सूरजमल दोनों जंगल में छिपे बैठे थे, कि अचानक पृथ्वीराज वहाँ पहुँच गये। पृथ्वीराज को देखते ही सूरजमल भागने लगे, पर पृथ्वीराज ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—"काकाजी, डरिये मत, मैं छिपकर या अचानक आप पर वार नहीं करूँगा। जब आप भी हाथ में तलवार लेकर सन्नद्ध हो जायँगे, तब ही मैं हथियार उठाऊँगा।" इस

पर सारंगदेव ने कहा–"भाई, युवावस्था में तो तलवार का वार सहा जा सकता था, पर अब वृद्धावस्था में वह शक्ति कहाँ ?" यह सुनकर सूरजमल बोले–"और वृद्धावस्था में भी भतीजे पृथ्वीराज का वार !" इसके अनन्तर सूरजमल ने पृथ्वीराज से कहा–"बेटा, अब मैं तुम्हारे साथ किसी प्रकार भी युद्ध करना नहीं चाहता। वह इसलिए नहीं, कि मुझे मृत्यु से भय लगता है। मैं अपने मरने की ज़रा भी चिन्ता नहीं करता। मेरे मरने पर मेरे लड़के चाहे जहाँ अपनी जीविका-उपार्जन कर जीवन-निर्वाह कर लेंगे; पर ईश्वर न करे, यदि मेरे हाथों कहीं तुम्हारा अनिष्ट हो गया, तो न जानें वीर-भूमि चित्तौड़ की क्या दशा होगी, और लोग मुझे क्या कह कर धिक्कारेंगे।" इसके पश्चात् काका-भतीजों में और-और बातें होने लगीं। थोड़ी देर में सन्ध्या हो जाने के कारण पृथ्वीराज भी वहीं ठहर गए, और रात-भर चचा-भतीजों में अनेक विषयों पर बात-चीत होती रहीं। प्रातःकाल पृथ्वीराज और सारंगदेव में युद्ध हुआ, जिसमें सारंगदेव वीर-गति को प्राप्त हुआ और सूरजमल सादड़ी की ओर भाग गए।

अब सूरजमल को निश्चय हो गया था, कि पृथ्वीराज मेवाड़ में से सुई की नोंक बराबर भूमि भी मुझे न लेने देगा। बहुत संभव है, वह किसी समय सादड़ी को भी मुझ से छीन ले। अतएव सादड़ी का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वह पृथ्वीराज के काम ही की न रहे। यह विचार सूरजमल

ने ब्राह्मणों और चारणों के लिए सादड़ी का संकल्प कर दिया और वह स्वयं खनथल के जंगलों में जाकर रहने लगे। सूरजमल ने वहाँ रह कर, अपने प्रबल पराक्रम द्वारा जंगली लोगों को वश में किया तथा देवला नामक एक नगर भी बसाया। कुछ दिनों पश्चात् सूरजमल ने एक क़िला भी बनवाया और वह धीरे-धीरे एक हज़ार गाँवों के स्वामी बन गए। आज भी देवलिया प्रतापगढ़ का राज्य सूरजमल के वंशधरों के अधिकार में है।

विश्वासघात

इन सब विजयपूर्ण घटनाओं के कारण पृथ्वीराज देश-भर में विख्यात हो गए थे और उनकी कीर्त्ति-कौमुदी चारों ओर छिटकने लगी थी। वह चित्तौड़ की अपेक्षा कुम्भलमेर में अधिक रहा करते थे। पृथ्वीराज का समस्त जीवन पौरुष-पराक्रम का जीवन था। उन्होंने केवल पैंतीस साल की आयु में अनेक शत्रुओं का मान-मर्दन किया। पृथ्वीराज के पराक्रम-पूर्ण कार्य-कलाप में इनकी वीर पत्नी ताराबाई का सदा सहयोग रहता था। एक दिन पृथ्वीराज को सूचना मिली कि उनके भाई संग्रामसिंह को श्रीनगर के पँवार सर्दार ने आश्रय दे रक्खा है। भला पृथ्वीराज यह कैसे सहन कर सकते थे, कि एक साधारण-सा जागीरदार उनके शत्रु को अपने यहाँ ठहरावे! अतएव वह तुरन्त श्रीनगर पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगे। पृथ्वीराज

श्रीनगर को कूच करने ही वाले थे, कि अचानक उन्हें उनकी बहिन आनन्दीबाई की, सिरोही से भेजी हुई दुःख-पूर्ण पत्री मिली। उसमें उसने अपने पति सिरोही-नरेश प्रभुराव के अत्याचार और दुर्व्यवहार की शिकायत करते हुए लिखा था–"मुझे इनके चंगुल से निकाल कर किसी प्रकार पूज्य पिताजी के घर पहुँचा दो। मैं यहाँ बड़ी दुखी हूँ, इस संकट से तो मेरी मृत्यु ही अच्छी है। मैं सदैव मौत को बुलाती रहती हूँ, परन्तु वह इधर होकर निकलती भी नहीं। भैया पृथ्वीराज, अब मेरा उद्धार तुम्हारे हाथ है। अगर तुम बचा सकते हो तो, मुझे इनके दुर्व्यवहार और अत्याचार की चक्की में पिसने से बचाओ।"

बहिन की चिट्ठी पढ़ कर पृथ्वीराज का ख़ून खौलने लगा, और वह श्रीनगर पर चढ़ाई करने का विचार स्थगित कर, सिरोही के लिए चल दिया। आधीरात का समय था, सब लोग गाढ़ निद्रा में सो रहे थे, नीरवता अपनी अभिनव छटा दिखाती हुई मूक अट्टहास कर रही थी। ऐसे शान्त समय में किसी को कल्पना भी न हो सकती थी, कि पृथ्वीराज सिरोही पहुँच, महलों की छत पर चढ़ कर सोते हुए प्रभुराव का गला दबा लेगा। पृथ्वीराज प्रभुराव का सिर धड़ से अलग करने वाला ही था कि आनन्दीबाई को दया आ गई, और वह उस से बड़े करुण स्वर में विनय करने लगी—"भाई, अब तो इन्हें प्राण-दान दे दो, मुझे इस समय इनकी ऐसी दयनीय दशा

देखकर बड़ा दुःख हो रहा है। मैं चाहती हूँ कि अब तुम इनसे कुछ न कहो। इस समय मुझे इनका निर्दय व्यवहार बिल्कुल याद नहीं रहा।"

बहिन की प्रार्थना पर पृथ्वीराज ने प्रभुराव को छोड़ दिया और उससे प्रतिज्ञा करा ली, कि भविष्य में वह सदैव आनन्दीबाई के साथ प्रेम और सहानुभूति युक्त व्यवहार करेगा। प्रातःकाल होने पर प्रभुराव ने अपने धर्म-भाई पृथ्वीराज का खूब सत्कार किया। उस ने उसके शुभागमन के उपलक्ष्य में सब सर्दारों को बुलाया और एक बड़ी दावत भी दी। प्रभुराव मुरब्बा बहुत अच्छा बनाना जानता था। जब पृथ्वीराज सिरोही से विदा होने लगे, तो प्रभुराव ने उन्हें कुछ मुरब्बा भेंट किया। मार्ग में भोजन का समय होने पर पृथ्वीराज ने एक जगह ठहर, भोजन किया और उस के साथ प्रभुराव का दिया हुआ मुरब्बा भी खाया। मुरब्बे में तीक्ष्ण विष मिला हुआ था। पेट में पहुँचते ही उसने अपना असर किया जिससे पृथ्वीराज बुरी तरह व्याकुल हो गये। वह थोड़ी ही दूर चले थे कि उनका जी घबरा गया और उनके लिए आगे बढ़ना कठिन हो गया। पृथ्वीराज ने तुरन्त अपनी स्त्री ताराबाई को बुलाने के लिए आदमी भेजा, परन्तु विष इतना तीक्ष्ण था कि उसके आते-आते पृथ्वीराज के प्राण-पखेरू सदा-सर्वदा के लिए शरीर-पञ्जर से प्रयाण कर गये! ताराबाई मृत पति का शव देखकर अत्यन्त दुखी हुई, उसके विषाद की सीमा न रही। परन्तु उसने रोने-झींखने

में समय नष्ट न कर सती होने का निश्चय किया। तुरन्त चिता तैयार कराई गई और वह सती अपने पति के शव को गोद में रख कर उस में बैठी। ज्वाला भड़भड़ाने लगी और थोड़ी ही देर में पवित्र आत्माएँ अग्नि की सुनहरी लपटों के विमान में बैठ कर सीधी स्वर्गधाम चली गईं। इस प्रकार इस वीर-दम्पति का संसार से विदा होना बड़े ही दुर्भाग्य की बात हुई। मेवाड़ तो पृथ्वीराज को खोकर एक प्रकार से असहाय और अभागा ही हो गया। अगर विष-प्रयोग द्वारा पृथ्वीराज को बलात् घसीट कर मृत्यु-मुख में न डाल दिया जाता तो, निश्चय ही वह अपनी वीरपत्नी के सहयोग से चित्तौड़-रक्षा के लिए ऐसा प्रबल प्रयत्न करते, जिसके कारण किसी यवन-शत्रु का उधर मुँह करना भी असम्भव हो जाता, और मेवाड़ पर सदैव राजपूतों की धवल ध्वजा फहराती रहती।

संसार का घटना-चक्र बड़ा विलक्षण है, प्रकृति की परिवर्त्तन-प्रियता से कौन इन्कार कर सकता है ? जहाँ एक दिन राज-महल बने हुए थे, वहाँ खँडहर दिखाई देते हैं, सुरम्य उपवनों की जगह बीहड़ वन नज़र आता है! जयमल या पृथ्वीराज, जिन्होंने मेवाड़ की गद्दी के लिए प्राणों की बाज़ी लगादी थी, अपना मनोरथ पूरा किए विना ही, संसार से चल बसे! जिस पराक्रमी पृथ्वीराज की तलवार ने विश्व में तहलका मचा दिया था, जिस महाबाहु के बल की महत्ता कट्टर से कट्टर शत्रु को भी स्वीकार करनी पड़ी थी, उस ने भी स्वर्ग का मार्ग लिया!

अब राणा रायमल के तीन पुत्रों में से केवल साँगा जीवित थे, जो अजमेर-निकटवर्त्ती श्रीनगर के राव कर्मचन्द का आश्रय पाकर उनके कृपापात्र बने हुए थे।

साँगा का शासन

अपने वीर पुत्र पृथ्वीराज के देहावसान का अशुभ संवाद सुन कर महाराणा रायमल को जो मर्मान्तक वेदना हुई, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। वह अपने प्यारे दुलारे वीर बेटे की मृत्यु-वार्त्ता सुन व्याकुल हो गये और उनके परिताप का ठिकाना न रहा। महाराणा पुत्र-शोक से इतने विह्वल होगये थे कि, उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही और स्वास्थ्य बिगड़ जाने से वह रोग-शैया पर पड़ गए। ऐसी असहाय अवस्था में महाराणा ने सुना कि, उनका तीसरा पुत्र साँगा श्रीनगर में राव कर्मचन्द के पास है। इस समाचार से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। दो पुत्रों के नष्ट हो जाने पर, बहुत दिनों से बिछुड़े तीसरे पुत्र साँगा का कुशल-संवाद सुन, मरणोन्मुख राणा का कुम्हलाया हुआ हृदय एक बार फिर आशा से खिल उठा। साँगा को बुलाने के लिए तुरन्त सवार भेजे गये। राव कर्मचन्द और साँगा दोनों महाराणा के सामने उपस्थित हुए। चिरकाल बाद अपने पुत्र को देखकर, राणा की आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे और उनका कंठ रुँध गया। राणा ने उस समय कुछ कहना चाहा, परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह कह न सके। थोड़ी देर बाद राणा ने

राजकुमार साँगा के संरक्षक राव कर्मचन्द को एक बड़ी जागीर प्रदान करने की घोषणा की।

जरा-जीर्ण राणा रायमल पुत्र-वियोग के दारुण दुःख को बहुत दिनों तक न सह सके। उन्हें पृथ्वीराज की याद ने अधिक काल तक जीवित न रहने दिया। वह उसके प्रबल पराक्रम का स्मरण कर पागलों की तरह प्रलाप करते और उसके रण-कौशल की महिमा का वर्णन सुन अधीरों की तरह रो पड़ते थे। जिस चित्तौड़ के महाराणा रायमल ने अपने विश्व-विख्यात बाहुबल द्वारा बड़े-बड़े वैरियों को बरबाद कर दिया, आज वह वीर बेटों के वियोग से बुरी तरह विलाप कर रहा है। सच है, पुत्र-शोक से बढ़ कर संसार में कोई दुःख नहीं। राणा रायमल 'हाय ! बेटा, हाय ! पुत्र' कहते-कहते स्वर्गवासी हुए और उनके बाद २७ वर्ष की आयु में राजकुमार संग्रामसिंह ने चित्तौड़ की बागडोर अपने हाथ में ली।

राणा संग्रामसिंह ने जिस समय मेवाड़ का राजमुकुट अपने सिर पर रक्खा, उस समय राजपूताना राजनैतिक दृष्टि से सुसंगठित और साधन-सम्पन्न था। अजमेर के चौहानों और मेवाड़ के गुहिलौतों ने अपनी शक्तियों को .खूब उन्नत कर रक्खा था। सारे देश में गुहिलौतों ही की धाक जमी हुई थी। हाड़ा मेवाड़ के अधीन थे और कछवाहों का भी कुछ राजनैतिक महत्त्व था। संग्रामसिंह के गद्दी पर बैठते ही मेवाड़ के पड़ौसी कछवाहे तथा राठौर लोग और भी अधिक शक्ति-सम्पन्न हो गये। राणा

साँगा ने सिंहासन पर बैठते ही सबसे प्रथम अपने कृपालु एवं आश्रयदाता परमार-सर्दार राव कर्मचन्द को अजमेर की बड़ी जागीर प्रदान कर, उसे मेवाड़ के उच्चतम जागीरदारों में सम्मिलित किया। राणा साँगा ने मेवाड़ाधिपति बनकर भोग-विलास या सैर-सपाटे में समय नष्ट नहीं किया। उसे अपनी वंश-परम्परा और जातीय महत्ता का बड़ा ध्यान था। उसका हृदय स्वदेश-प्रेम तथा मेवाड़-गौरव-रक्षा के भावों से भरा हुआ था। साँगा ने सिंहासनारूढ़ होने के थोड़े ही दिनों बाद अपनी राज्य-सीमा को सुदृढ़ और शक्ति को सुसंगठित करने का काम आरम्भ कर दिया। उसने निश्चित किया कि पहले-पहल मेवाड़ के उस विलुप्त वैभव को प्राप्त किया जाय, जिसे प्राप्त करने में महाराणा रायमल सफल नहीं हो सके।

मेवाड़-भूमि देहली, मालवा और गुजरात की मुसलमान रियासतों से घिरी हुई थी। ये सब रियासतें हिन्दू-राज्यों को हड़पने के लिए सदैव मुँह बाये रहती थीं। अवसर आते ही हिन्दू नरेशों पर सुसंगठित रूप से टूट पड़ना उनके लिए एक साधारण बात थी। मेवाड़ के तीन ओर मुसलमान बसे हुए थे। केवल पश्चिम दिशा में राठौर राजपूतों की बढ़ती हुई प्रभुता दिखाई देती थी। उपर्युक्त तीनों यवन-राज्यों से, राणा संग्रामसिंह को भयङ्कर युद्ध करना पड़ता था, जिनमें वह अपने बुद्धि-कौशल द्वारा निरन्तर विजयी होकर, मेवाड़ की धवल-ध्वजा को और भी अधिक ऊँचा कर देते थे। कभी-कभी तो ऐसा होता

था, कि देहली, मालवा और गुजरात तीनों ओर से मेवाड़ पर अलग-अलग आक्रमण किये जाते थे—अर्थात् अकेले राणा को तीनों शत्रुओं से तीन रणक्षेत्रों में लड़ना पड़ता था, परन्तु राणा की रण-चातुरी उन्हें कभी पराजित या असफल न होने देती थी। और यही कारण था कि जब-जब राणा पर शत्रुओं ने चढ़ाई की तभी तब विजय-श्री ने उनके गले में जयमाल डाल कर आशीर्वाद दिया। राणा साँगा शत्रुओं पर विजयी ही न होते थे, बल्कि उन्हें खदेड़ कर अपनी राज्य-सीमा का विस्तार भी करते जाते थे। मुसलमानों ही पर नहीं, बल्कि उत्तरीय भारत के सब हिन्दू नरेशों पर भी राणा ने अपना सिक्का जमा कर मेवाड़ को वह महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कराया, जो उसे बहुत दिनों से प्राप्त न हुआ था। उस समय मारवाड़, आँबेर, ग्वालियर, सीकरी, कालपी, अजमेर, रायसेन, रामपुरा, बूँदी, चन्देरी, आबू आदि सभी स्थानों के राजा, राव और रावल महाराणा साँगा का स्वामित्व स्वीकार कर चुके थे। ये सभी लोग राणा की सहायता के लिए सदा तैयार रहते थे। जब राणा किसी शत्रु पर चढ़ाई करते तो, सात बड़े-बड़े राजा, नौ राव एवं एकसौ के लगभग रावल और रावत उनके साथ जाते थे। इनके अतिरिक्त अस्सी हज़ार सवार और पाँचसौ जंगी हाथी भी उनकी सेना में सम्मिलित होते थे।

राणा साँगा की वीरता-पूर्ण कीर्ति सारे देश में छा गई। सब हिन्दुओं के टूटे हृदय आशा तथा उत्साह से भरने लगे, और लोगों

को निश्चय होगया कि अब भारत में हिन्दुओं का एकछत्र राज्य हुए बिना न रहेगा। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पठान और लोदी शासकों की बड़ी शिथिल अवस्था थी। उनकी रियासतों में फूट और अनेकता की भयङ्कर अग्नि जलने लगी थी और जगह जगह राज-विद्रोह हो रहे थे। ऐसे अवसर से महाराणा साँगा ने लाभ उठा कर यदि अपनी शासन-सत्ता का प्रबल प्रभाव दिखाया होता तो, एक बार फिर भारत का राजमुकुट उनके विशाल भाल पर सुशोभित दिखाई देता, और खोई हुई कीर्ति तथा लुप्त सम्पत्ति पर फिर आर्यजाति का अखण्ड अधिकार स्थापित हो जाता। राणा साँगा ने अपनी शक्तियों का उपयोग मेवाड़-रक्षा और उसकी राज्य-सीमा बढ़ाने में ही नहीं किया, बल्कि आवश्यकता होने पर, उन्होंने अपने मित्र राजाओं को भी पूरी सहायता दी। कई हिन्दू-राज्यों को शत्रु यवनों के क्रूर चंगुल से निकाल कर उन्हें अभयदान दिया, कितनों ही को विजय प्राप्त कराई और कितने ही राज्यों का संघटन सुदृढ़ और सुसंयत बनाया।

दिल्लीश्वर का दर्प-दलन

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका बेटा इब्राहीम गद्दी पर बैठा। इब्राहीम लोदी को अपनी प्रजा में फैला हुआ विद्रोह दबाने के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ा। उसे रात-दिन इसी चिन्ता और उद्योग में निमग्न रहना पड़ता था कि, किसी

प्रकार प्रजा में शान्ति स्थापित की जाय। एक जगह विद्रोह दबाया जाता, तो दूसरी जगह उसकी चिनगारी फूट निकलती और वह बढ़कर उग्र रूप धारण कर लेती थी। इब्राहीम को एक मिनट के लिए भी चैन न मिलता था। इतने में उस पर एक नई आपत्ति और आई। इब्राहीम ने बड़े आश्चर्य और दुःख के साथ सुना कि राणा साँगा उसकी राज्य-सीमा पर आक्रमण करने वाले हैं। फिर क्या था, इब्राहीम ने अपनी सेना तैयार की और वह चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के विचार से मेवाड़ की ओर बढ़ने लगा। उधर महाराणा कब शान्त बैठने वाले थे, उनकी सेना भी मार्ग ही में इब्राहीम से मुठभेड़ करने को चल पड़ी। दोनों सेनाएँ खतौली नामक स्थान पर मिलीं और एक दूसरे पर प्रहार करने लगीं। दोपहर तक दोनों में बुरी तरह खाँड़ा खटका, लोथों के ढेर लग गये, परन्तु अन्त को लोदी की सेना पराजित होकर भीरुता-पूर्वक भाग निकली! उसके पीछे-पीछे इब्राहीम लोदी भी खिसक गया! उस समय लोदी-वंश का केवल एक राजकुमार राणा के हाथ लगा, जिसे उन्होंने क़ैद कर लिया। फिर थोड़े दिनों बाद लोदी से कुछ धन वसूल कर राणा ने इस क़ैदी को भी छोड़ दिया।

उपर्युक्त भयङ्कर युद्ध में राणा साँगा ने शत्रु को परास्त तो शीघ्र ही कर दिया, परन्तु उन्हें शारीरिक क्षति बहुत पहुँची। शत्रुओं के खड्ग-प्रहार से राणा का बायाँ हाथ नष्ट हो गया और एक विषैले बाण ने उन्हें लँगड़ा बना दिया। इतने पर भी उनके असीम साहस और प्रबल पराक्रम में कुछ अन्तर नहीं पड़ा।

राणा साँगा की चिकित्सा बड़ी तत्परता से की गई, और जब उनके घाव भर कर अच्छे हो गये, तो इस ख़ुशी में एक बड़ा दरबार किया गया, जिसमें राणा के मित्र नरेशों, दरबारियों तथा प्रजा के मुख्य-मुख्य सरदारों ने बड़ी प्रसन्नता से भाग लिया।

सभा मण्डप भर चुकने पर सब की आँखें बड़ी उत्सकता-पूर्वक साँगा के दर्शनों की प्रतीक्षा करने लगीं; परन्तु उन्होंने अभी दरबार में प्रवेश ही न किया था। थोड़ी देर बाद राणा अपनी राजकीय पोशाक पहने सभा-भवन में पधारे। चारों ओर से अभिनन्दन होने लगा, बधाइयों के मंजु घोष से आकाश गूँज उठा। इस समय राणा ने उपस्थित दरबारियों को एक असाधारण विधि से प्रणाम किया—अर्थात् उन्होंने मेवाड़-नरेशों की प्रचलित प्रणाम-विधि के अनुसार दोनों हाथ वक्षःस्थल तक ही नहीं उठाये, बल्कि सीधा हाथ सिर तक ले जाकर सब को प्रणाम किया। यह देख कर सारी राज-सभा आश्चर्य-सागर में डूब गई और लोग मन ही मन कहने लगे, कि राणा ने यह क्या किया! उन्हें तो मेवाड़-नरेश की हैसियत से छाती तक ही हाथ उठा कर प्रणाम का उत्तर देना चाहिए था, सिर तक हाथ ले जाना तो साधारण प्रजा-जनों का कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, राणा साँगा ने इस अवसर पर एक और अभूत पूर्व तथा आश्चर्य-जनक काम किया—अर्थात वह सदा की भाँति दरबार में राज-सिंहासन पर न विराज

कर, सामान्य दरबारियों के मध्य फ़र्श पर ही बैठ गए। राणा की ऐसी असाधारण चेष्टाएँ देख कर, दरबारी लोग परस्पर काना-फूँसी करने और बड़े आश्चर्य एवम् दुःख के साथ कहने लगे कि, कदाचित् बहुत दिनों तक बीमार रहने के कारण राणा की बुद्धि में अन्तर आ गया है। नहीं तो, ऐसा आज तक उन्होंने कभी नहीं किया। आख़िर लोगों से न रहा गया और रावत रतनसिंह नामक एक दरबारी ने बड़ी नम्रता पूर्वक महाराणा से सिर तक हाथ उठा कर प्रणाम करने तथा सिंहासन छोड़ साधारण दरबारियों के मध्य फ़र्श पर बैठने का कारण पूछा।

महाराणा उपर्युक्त प्रश्न को सुनकर उठ खड़े हुए और ऊँचे स्वर में, बड़ी गम्भीरता पूर्वक कहने लगे—"भाइयो, भारतवर्ष की यह पुरानी प्रथा है कि, जब किसी देवालय की मूर्ति का अंग भंग हो जाता है, तो वह पूजने योग्य नहीं रहती, और उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर दी जाती है। राज-सिंहासन भी लोगों के लिए पूजा का स्थान है, इस का अधि-ष्ठाता भी ऐसा पुरुष होना चाहिए, जो सर्वाङ्ग-सम्पन्न हो और शासन सम्बन्धी कर्त्तव्यों का सुयोग्यता पूर्वक पालन कर सके। जिस व्यक्ति का एक हाथ कट गया हो, टाँग टूट गई और आँख फूट गई हो, वह मेवाड़-राज-सिंहासन पर बैठने योग्य कैसे हो सकता है, यह बात बहुत सोचने पर भी मेरी समझ में नहीं आती। ऐसी दशा में, मैं प्रार्थना करता हूँ कि, आप

लोग किसी दूसरे सुयोग्य और समर्थ पुरुष को मेवाड़ का अधिपति चुनें, मुझ से काम चलना कठिन है। मुझे तो अन्य सामन्तों की तरह वृत्ति देकर, इस महत्त्व-पूर्ण कार्य-भार से मुक्त कीजिए। मैं यथा सम्भव अन्य प्रकार से राज्य की सेवा-सहायता के लिए सदैव तैयार रहूँगा।"

राणा की ऐसी बातें सुन कर, इस अवसर पर पधारे हुए मित्र नरेश और सर्दार लोग एक स्वर से कहने लगे—"नहीं-नहीं ऐसा कदापि नहीं हो सकता। राणाजी, आप तो मेवाड़-रक्षा के लिए प्रचण्ड पौरुष दिखाते हुए, समरभूमि में क्षत-विक्षत हुए हैं। आपने अपने शत्रु को पराजित कर मेवाड़ के लिए जो विजय-श्री प्राप्त की है, उसके कारण आज प्रत्येक राजपूत अभिमान से गर्दन ऊँची किए हुए है। आपने समर-विजयी बनकर हमारे हृदय-मन्दिरों में विशेष स्थान कर लिया है। शौर्य, साहस और बल-विक्रम के कारण आप हमारे पहले से भी अधिक पूज्य और माननीय बन गए हैं। आज मेवाड़ आपके कारण अपने को जितना गौरवशाली समझे, थोड़ा है। मेवाड़-राज-सिंहासन के लिए आपसे अधिक योग्यतम व्यक्ति और कौन हो सकता है।" इतना कह, कई राजा तथा सर्दार आगे बढ़े और उन्होंने महाराणा का हाथ पकड़ कर उन्हें राज-सिंहासन पर बिठा दिया।

इब्राहीम लोदी को राणा साँगा से बड़ी करारी हार खानी पड़ी थी। इस लड़ाईमें उसके जन-धन का जितना अधिक संहार हुआ, उतना पहले कभी न हुआ था। बहुत दिनों तक तो लोदी छिपा

पड़ा रहा, और चिरकाल तक किसी पर आक्रमण करने की उसकी हिम्मत ही न हुई। इस समय लोदी की बड़ी विकट परिस्थिति थी। एक ओर बाहरी शत्रुओं का भय और दूसरी ओर अपने अधीनस्थ रियासतों का आतङ्कवाद तथा विप्लव! उसे अपनी बची-खुची शक्ति घरेलू झगड़े दबाने में लगानी पड़ी। यह सब कुछ था, परन्तु लोदी के चित्त से उस करारी हार की लज्जा एक क्षण के लिए भी दूर न होती, जो उसे राणा साँगा से खतौली के मैदान में लड़ कर प्राप्त हुई थी। लोदी के मस्तिष्क में हर समय यही उथल-पुथल मची रहती कि जिस प्रकार सम्भव हो, राणा को परास्त कर पिछले युद्ध की कलङ्क-कालिमा धोने का प्रयत्न किया जाय। अन्त में इब्राहीम को साँस लेने का अवसर मिला और उसने मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए अपनी सेना सुसज्जित की। जब सब तैयारियाँ हो चुकीं तो तीन बड़े-बड़े सेनापतियों की अध्यक्षता में फ़ौज ने मेवाड़ की ओर कूच किया। कहते हैं, इन सेनापतियों में इतनी शक्ति थी कि, वह लड़ाई में बड़े से बड़े कई योद्धाओं को अकेले ही आसानी से पछाड़ सकते थे।

जब लोदी की सेना मेवाड़ तक पहुँच गई तो राणा भी अपने सैनिकों सहित उससे टक्कर लेने के लिए आगे बढ़े। बाकरौल के मैदान में मोर्चेबन्दी की गई। सुलतान की सेना राजपूतों पर आक्रमण करने की चेष्टा करने लगी। उधर राजपूत भी मैदान में आ डटे। वीर सीसौदिया रणचण्डी पर अपने अमूल्य जीवनों को चढ़ाकर, प्रबल शत्रु दल से विजय-श्री छीन लाना एक

साधारण-सी बात समझते थे। उत्तेजित यवन-सेना पर राजपूत-दल एकदम टूट पड़ा और उसने उसके मिथ्या गर्व-गौरव को बात की बात में मिट्टी में मिला दिया ! जो यवन सेनापति अपने पराक्रम और साहस के आगे विश्व-विजेता को भी तुच्छ दृष्टि से देखते थे, वही राजपूत-सेना के प्रहारों से त्रस्त और भय-ग्रस्त होकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए इधर-उधर भागने लगे। थोड़ी ही देर में हज़ारों यवनों की लोथें, ख़ून से लथ-पथ होकर धरती पर पड़ी दिखाई देने लगीं। कितने ही कायर मैदान छोड़ कर भाग गए। इब्राहीम ने अपनी फ़ौज एकत्र कर उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने की भरसक कोशिश की, परन्तु एक भी मुसलमान सिपाही उसके रोकने से न रुका। अन्त में इब्राहीम को भी भाग कर अपनी जान बचानी पड़ी।

बाकरौल से भाग कर यवन-सेना ने घाटोली नामक स्थान पर दम लिया। इब्राहीम ने भी शीघ्रता से वहाँ पहुँच कर अपने सिपाहियों को धैर्य बँधाना और उन्हें संगठित करना चाहा। अभी मुसलमान सैनिक अच्छी तरह साँस भी न ले पाये थे, कि अचानक राजपूत लोग उनका पीछा करते हुए वहाँ पहुँच गए। यवन सिपाहियों को स्वप्न में भी ध्यान न था कि राजपूत लोग इतनी जल्दी उनके ऊपर जा चढ़ेंगे। राणा की सेना को देखते ही मुसलमानों के प्राण सूख गए और सुलतान इब्राहीम के प्रोत्साहन से उनमें जो कुछ साहस का संचार हुआ था, वह भी काफूर हो गया। बेचारे यवन सैनिक, भेड़िये से डरी हुई भेड़ों

की भाँति इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगे, पर चारों ओर से राजपूतों द्वारा घिरे होने के कारण कहीं भाग न सके। अन्त में विवश होकर उन्हें युद्ध के लिए सन्नद्ध होना ही पड़ा। राजपूतों की तेज़ तलवारें यवनों को बलि-पशुओं की भाँति काटने लगीं। यद्यपि यवन सैनिक भी तलवार चला रहे थे, परन्तु उनमें उस उत्साह का अभाव था, जो राजपूतों में दिखाई दे रहा था।

इब्राहीम के सम्पूर्ण सिपाहियों में से कुछ ने तो हथियार पटक कर राजपूतों की अधीनता स्वीकार करली, और कुछ किसी प्रकार राजपूतों की निगाह बचाकर भाग गए। शेष सब यवनों को राजपूतों ने तलवार के घाट उतार दिया। इब्राहीम अपने कुछ सवारों की सहायता से ज्यों-त्यों कर बच सका और दिल्ली की ओर भाग गया। इस युद्ध में राजपूतों ने यवनों की शक्ति को ऐसा कुचला कि, वे फिर बहुत वर्षों तक सिर न उठा सके। राणा ने इस प्रकार मुसलमानों की दुर्गति करके विजय-लक्ष्मी प्राप्त की। इस जीत से मेवाड़ाधिपति राणा साँगा का मस्तक गौरव से और भी अधिक ऊँचा हो गया। विश्व में उनके रणचातुर्य की चर्चा और प्रबल पौरुष की प्रशंसा होने लगी। इस युद्ध में राजपूतों को विजय के साथ-साथ यश और मालवा प्रान्त का वह भाग, जिसे किसी समय मुहम्मदशाह ने हड़प लिया था, प्राप्त हुआ।

शत्रुओं को परास्त कर राणा साँगा विजय-दुन्दुभि बजाते हुए चित्तौड़ लौटे, और बड़े समारोह के साथ क़िले में प्रविष्ट हुए।

इस विजय के उपलक्ष्य में राणा ने अपने सैनिकों को घोड़ा, जोड़ा, तलवार, कड़े आदि वस्तुएँ पारितोषिक स्वरूप दीं, और सेनापतियों तथा सरदारों को उपाधियों से अलंकृत किया। अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त कर, वीर राजपूतों के हृदय खिल उठे और उनका उत्साह दूना बढ़ गया। जहाँ राणा के सैनिक अपने प्राणों की बाज़ी लगा, विजय प्राप्त करके राणा को गौरवान्वित बनाते थे, वहाँ राणा भी समयानुसार उन्हें यथोचित पुरस्कार द्वारा प्रोत्साहित करने में कमी न करते थे। इस भाँति आपस के आदान-प्रदान द्वारा पारस्परिक प्रेम स्थिर रखते हुए, वे दोनों ही राज्य की रक्षा और वृद्धि करने में तत्पर रहते।

अद्‍भुत आयोजन

इब्राहीम लोदी का मान-मर्दन कर चुकने पर राणा ने रणथम्भोर के इतिहास-प्रसिद्ध क़िले को, जो इस समय अली-नामक यवन के अधिकार में था, लेने का विचार किया। उन्होंने सोचा, यह अली इब्राहीम का सहायक बनकर अभी हमसे लड़ भी चुका है, अतः अब उसे लोदी की मदद करने का मज़ा चखाना चाहिए। उधर अली ने भी जब सुना कि लोदी की सेना राणा से हारकर भाग गई, तभी से उसने अपनी रक्षा का प्रबन्ध प्रारम्भ कर दिया था। कदाचित् वह इस बात को जानता था कि अब राणा का कोप-कोदण्ड इधर भी तने बिना नहीं रहेगा। अली ने अपनी सेना एकत्र कर क़िले में

छिपा दी, और उसके लिए कई महीने की रसद का प्रबन्ध करके कोट के फाटक बन्द करा दिए।

राणा की फ़ौज जब रणथम्भोर पहुँची और उसने क़िले के फाटक बन्द पाए, तो वह बड़े असमंजस में पड़ी। जब शत्रु सामने ही नहीं, तब युद्ध किसके साथ किया जाय! महाराणा साँगा ने निराश होना तो सीखा ही न था। ऐसे अवसर पर वह सदा बुद्धि-कौशल से काम लेते और अन्त में सफल मनोरथ होते थे। यहाँ भी साँगाजी ने जब बल-विक्रम से काम सिद्ध होते न देखा, तो बुद्धि-विवेक से कार्य लिया। राणा ने अपनी सेना का अधिक भाग क़िले के मुख्य फाटक पर, जहाँ कि अली की ओर से कठिन पहरे का प्रबन्ध था, तैनात कर दिया; और सैनिकों की कुछ छोटी-छोटी टुकड़ियाँ गढ़ के चारों ओर घेरा डालकर डटा दीं। इस प्रकार कई दिन पड़े रहने के पश्चात्, एक दिन अचानक प्रातःकाल ही राणा की छावनी उखड़ने लगी, और डेरे तम्बू ऊँटों पर लाद-लादकर चित्तौड़ की ओर भेजे जाने लगे। दो पहर होते-होते राजपूतों की समस्त फ़ौज रणथम्भोर से हट गई।

उधर क़िले में से जब यवनों ने देखा कि राणा निराश होकर लौट गए, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन बेचारों ने सन्तोष का साँस लिया और समझा कि बला टल गई। राणा के हटते ही क़िले के पहरे में अब वह कठोरता और सतर्कता न रही। राजपूतों को गया समझ अली ने सब प्रबन्ध ढीला कर

दिया। परन्तु वास्तव में राणा गए न थे बल्कि उन्होंने अपनी फ़ौज वहाँ से हटाकर अली को भुलवा दिया था।

भगवान् मरीचिमाली संसार से अपनी रश्मियों को समेट, अस्ताचल गामी हुए और शनैः शनैः रात्रि के अन्धकार का प्रसार होने लगा। पशु-पक्षी अपने रहने के स्थानों को लौटने लगे और चारों ओर नीरवता बढ़ने लगी। थोड़ी ही देर में सर्वत्र निविड़ अन्धकार का साम्राज्य हो गया। कारबारी लोगों ने अपने काम समाप्त किये और वे घरों में जा विश्राम करने लगे। एक पहर रात्रि बीतते-बीतते, सब ओर सन्नाटा मालूम होने लगा। लोगों का आवागमन बिल्कुल बन्द हो गया और चारों ओर पूर्ण शान्ति बिराजने लगी। अब कभी-कभी कुत्तों की कर्ण कटु 'भों-भों' या शृगालों की 'हुआँ-हुआँ' के सिवा और कुछ सुनाई न देता था; हाँ, जब-तब पहरे वालों का 'जागते रहो' शब्द भी कर्ण कुहर में अवश्य पड़ जाता था।

आज रणथम्भोर के क़िले में भी और दिनों की भाँति कड़ा पहरा न था, क्योंकि अब वहाँ किसी को राणा का भय तो रहा ही नहीं। कई दिन पश्चात् आज बेचारे यवनों को सुखपूर्वक सोने का अवसर मिला था। जब समस्त प्रकृति निद्रा-देवी की गोद में विश्राम करने लगी, तब राणा साँगा के कार्य करने का समय आया। उन्होंने अपनी सेना को तो क़िले से लगभग आध मील की दूरी पर छोड़ा, और सैनिकों को सचेत कर दिया कि जब क़िले में हरे रंग का प्रकाश दिखाई दे, तभी तुम लोग एक

साथ उस पर धावा कर देना। इसके बाद कुछ रण-कुशल वीर योद्धाओं को दुर्ग-द्वार के समीप एकान्त स्थान में छिपा दिया और उनसे कह दिया कि, क़िले का फाटक खुलते ही वे उसमें एक दम घुस जायँ। यह सब प्रबन्ध कर चुकने के पश्चात् राणा अर्धरात्रि होने की प्रतीक्षा करने लगे।

जब क़िले में बारह का घण्टा बज गया और राणा ने भली भाँति निश्चय कर लिया कि पहरे वाले भी अब अधिक सतर्क नहीं हैं, तब उन्होंने अपना आगे का कार्य आरम्भ किया। वे अपने पचीस विश्वस्त साथियों तथा सीढ़ी, रस्सा आदि आवश्यक सामान सहित क़िले के उस भाग की ओर चले, जहाँ कुछ घने वृक्षों का झुरमुट-सा था। संयोग से उस स्थान पर कोई पहरेवाला भी न था। वहाँ पहुँच राणा ने दो-तीन लम्बी-लम्बी सीढ़ियाँ, एक दूसरी में बाँध कर, क़िले की दीवार के सहारे खड़ी कीं। परन्तु सीढ़ियाँ दीवार के ऊपर तक पहुँच न सकीं। राणाने उनपर चढ़कर देखा तो वह दीवार से दो-तीन हाथ नीचे रह गए। परन्तु फिर भी साँगा ज्यों-त्यों कर सीढ़ी के सबसे ऊचे डंडे पर चढ़े। अब उनके हाथ दीवार के ऊपर पहुँच गए थे। दीवार के सिरे पर हाथ पड़ते ही राणा को बड़ी प्रसन्नता हुई। यद्यपि उनका एक ही हाथ काम करता था, फिर भी वह उस समय उत्साह से एक ही हाथ टेक कर ऐसे उचके कि, झट से परकोटे के ऊपर पहुँच गए।

साँगाजी क़िले की दीवार पर पहुँच कर खड़े ही हुए थे, कि एक गश्ती पहरेदार उन्हें अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। राणा ने झटपट दीवार के एक कँगूरे से अपने साथ लाया हुआ रस्सा बाँध कर नीचे लटका दिया, जिसके सहारे उनके साथी ऊपर आ सकें, और आप तलवार खींच पहरेदार का मुकाबिला करने के लिए खड़े हो गये। थोड़ी देर में पहरेवाला राणा के समीप आ गया। इससे पूर्व ही कि वह अपने मुँह से कुछ शब्द निकाले, राणा ने तलवार का ऐसा हाथ मारा कि उसका सिर धड़ से अलग हो गया। यवन सिपाही का निर्जीव शरीर धड़ाम से दीवार के नीचे गिरा। शव के गिरने का धमाका सुन कर आस-पास ऊँघते हुए दूसरे पहरेदार सचेत हो गये, और परस्पर "क्या है, क्या गिरा ?" आदि प्रश्न करते हुए मशाल जलाने लगे। इस समय तक राणा के साथी भी ऊपर आ गये थे। जब तक पहरेदार मशाल जला कर सावधान हुए, तब तक सब राजपूत रस्सी के सहारे किले में उतर गए। मशालों के प्रकाश में यवनों ने राजपूतों को देखा, तो उनके होश उड़ गए। वह इतने भयभीत हो गए कि मुँहसे एक शब्द भी न निकाल सके। राणा ने भी उन्हें कुछ कहने-सुनने का अवसर न दे, तुरन्त तलवार के घाट उतार दिया। इनसे निबट कर राणा दुर्ग के द्वार की ओर बढ़े। मार्ग में जो कोई इक्का-दुक्का पहरेवाला मिला, उसे भी राजपूतों ने ठिकाने लगा दिया।

फाटक पर पहुँच कर राजपूतों ने देखा कि यहाँ पहरे वाले दस-बारह से अधिक तो नहीं हैं, पर वे सब सतर्क और सचेत अवश्य हैं। राणा ने अपने दस साथियों को उन्हें क़ाबू में करने की आज्ञा दे, शेष की सहायता से क़िले का फाटक खोल दिया। अब क्या था, बाहर बैठे हुए राजपूत जयघोष करते हुए आँधी की तरह भीतर घुस पड़े।

क़िले के अन्दर इतनी मार-काट और छीना-झपटी में जो हल्ला-गुल्ला हुआ, उसे सुन कर अली की फ़ौज सचेत हो गई थी। राजपूतों का जयनाद सुनकर मुसलमानों को वास्तविक स्थिति समझने में देर न लगी। अली के सब सैनिक युद्ध के लिए सन्नद्ध हो, तुरन्त राजपूतों के सामने आ गए। घमासान युद्ध होने लगा। इस समय अली स्वयं अपनी सेना का सञ्चालन कर रहा था। वह अपने सिपाहियों को दीन के नाम पर, बार-बार प्रोत्साहित करता हुआ, राजपूतों की ओर बढ़ता ही जाता था। उधर राजपूत भी 'एकलिंग भगवान की जय' का गम्भीर घोष करते हुए बुरी तरह मार-काट मचा रहे थे। दोनों ही सेनाएँ प्राणों की बाजी लगा कर दीन और धर्म के नाम पर कट-कट कर युद्ध कर रही थीं। थोड़ी ही देर की लड़ाई में उभय पक्ष के बहुत से वीर काम आ गए। राणा ने जब अपने वीरों की संख्या कम होते देखी, तो उन्होंने हरे रंग की मशाल जला कर अपनी बड़ी सेना को भी आने के लिए संकेत कर दिया। हरा रंग देख राणा की अवशिष्ट सेना भी थोड़ी देर में वहाँ आ उपस्थित

हुई। अब क्या था, राजपूतों की शक्ति बढ़ गई और उन्होंने एक साथ यवनों पर हमला कर दिया। इसी बीच में एक राजपूत वीर के हाथ से अली मारा गया। अली का गिरना था कि यवनों के छक्के छूट गए और वे भागकर बारकों तथा घरों में घुस गए। राजपूतों ने वहाँ भी उनका पीछा किया। इस समय वीर क्षत्रिय ऐसे जोश में भरे हुए थे, कि वे यवनों को उनके ज़नानख़ानों तक खदेड़ते चले गए। राजपूतों ने यवन सैनिकों की तो ख़ूब ख़बर ली, पर वे बच्चों और स्त्रियों से बिलकुल नहीं बोले, यहाँ तक कि बहुत से पुरुषों ने भी बुर्क़ा ओढ़ कर राजपूतों को धोखा दिया और ज़नाना वेश बना कर अपने प्राण बचा लिए।

थोड़ी देर में समस्त क़िले पर सीसौदियाओं का अधिकार हो गया। प्रातःकाल ही रणथम्भोर की प्रजा ने बड़े आश्चर्य के साथ देखा, कि क़िले पर राजपूतों की पताका फहरा रही है। दो बार दिल्लीपति इब्राहीम को परास्त करने तथा इस बार रणथम्भोर के दुर्ग को इस भाँति रणकौशल द्वारा जीतने से, राणा साँगा की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई। भाट और चारणों ने राणा की प्रशंसात्मक कविताएँ बना-बना और सुना-सुना कर उसके यश का ख़ूब विस्तार किया। इस विजय से देशी और विदेशी समस्त राजाओं पर राणा की धाक बैठ गई और वे उसे अपना शिरोमणि समझने लगे। निस्सन्देह राणा साँगा इसी आदर के योग्य थे। उन्होंने अपने शासन में मेवाड़-राज्य का ख़ूब विस्तार किया। राणा द्वारा कौशल पूर्वक रणथम्भोर का अजेय

दुर्ग जीते जाने की कथा सुन कर तो, सभी शासक लोग उनके बुद्धि-विवेक और बल-विक्रम का लोहा मान गए। मुसलमान सिपाही तो राणा के भय से कम्पायमान हो गए थे, उन्हें प्रतिक्षण यही भय रहता था, कि न जाने राणा साँगा कब और कहाँ से प्रकट हो जाय। वे सोचते—"ख़ुदा जाने इस क़ाफ़िर के पास क्या जादू है, कि जिससे वह चाहे जब और चाहे जहाँ पहुँच जाता है। न मालूम ज़मीन फोड़ कर निकल आता है या असमान से उड़कर आ जाता है। वह इन्सान है या शैतान ! जब वह पहरेदारों की आँखों में धूल झोंकता हुआ, आधी रात के वक्त बन्द क़िले में पहुँच सकता है, और अली की इतनी बड़ी फ़ौज को मार कर क़िले पर अपना कब्ज़ा कर सकता है, तो दिन-दहाड़े खुले मैदान में तो वह क्या नहीं कर सकता !" इस भाँति शत्रु और मित्रों में किसी न किसी प्रकार राणा साँगा की चर्चा अवश्य होती थी। संग्रामसिंह के राजत्व-काल में मेवाड़ की राज्य-सीमा का विस्तार पूर्व में नदी-तट पश्चिम में मेवाड़ी पहाड़ी, दक्षिण में मालवा की सरहद और उत्तर में वियाने के पास वाले खार तक था।

मालवा-मान-मर्दन

मालवा प्रदेश फूट और अनेकता का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ का शासक सुलतान महमूद ख़िलजी अपनी कायरता और अदूर-दर्शिता के कारण बहुत गिर चुका था। न उस का कहीं आतङ्क था और न कोई उसकी बात मानता था। कुछ

प्रभावशाली सरदारों ने अपनी एक गुट्ट बना ली थी, और उसी की इच्छानुसार महमूद को सारा राज-काज करना पड़ता था। कहने के लिए महमूद बादशाह अवश्य था, परन्तु वास्तव में शासन उक्त गोष्ठी के ही हाथों में था। जब इस गुट्ट ने खुले तौर पर महमूद की आज्ञाओं और व्यवस्थाओं का विरोध किया, तो वह प्राण नष्ट होने के भय से, अपनी राजधानी माँडू छोड़ कर भाग गया। सरदारों की गोष्ठी तो यह चाहती ही थी, उसने उचित अवसर पाकर, माँडू के सिंहासन पर साहबख़ाँ को बिठा दिया और उसे ही मालवा का शासक घोषित कर दिया।

इस समय मालवा के मेदिनीराय नामक एक शक्तिशाली राजपूत सर्दार ने, सुलतान महमूद के पास आकर उस की सहायता करने का विचार प्रकट किया। यह सर्दार अकेला ही न था, उसके साथ राजपूतों की एक बड़ी सेना भी थी। मेदिनीराय की सम्मति मान कर सुलतान महमूद ने माँडू पर फिर अधिकार करने के लिए चढ़ाई की। मार्ग में अराजक लोगों ने अनेक विघ्न डाले, परन्तु मेदनीराय ने सब विप्लव-कारियों के दाँत खट्टे कर दिये। जो सामने आया, उसे ही इस वीर राजपूत ने मार भगाया। कई यवन सेनापति तो अनायास ही यम-धाम पहुँचा दिये, कितने ही वीर नाम धारी सैनिक मेदिनीराय का आतङ्क और प्रभाव देख कर मैदान से भाग निकले। फिर क्या था, मार्ग निष्कण्टक हो गया और मेदिनी-

राय की सहायता से सुलतान महमूद फिर माँडू के राज-सिंहासन पर सुशोभित दिखाई देने लगा। महमूद ने मेदिनीराय की ऐसी वीरता और रण-कुशलता देख कर, उसे अपना प्रधान सचिव बना लिया और वह सारा राज-काज उसी की सम्मति से करने लगा। मेदिनीराय ने मालवा का प्रधान सचिव बनते ही, विप्लवकारियों का दर्प दबा दिया और उन की सारी अराजकता तथा गुट्टबन्दी मिट्टी में मिला दी। प्रधान सचिव की इस दमन-नीति का विरोध करने के लिए, विद्रोहियों ने एक नई चाल चली। वह गुजरात और देहली के मुसलमान शासकों के पास पहुँचे और उनसे कहा कि, मालवा-नरेश सुलतान महमूद तो नाम मात्र को शासक है, वहाँ का असली राजा तो मेदिनीराय नामक हिन्दू है। यह हिन्दू प्रधान सचिव बन कर अपने धार्मिक पक्षपात के कारण, मुसलमान प्रजा पर जो अत्याचार करता रहता है, उनका स्मरण मात्र भी रोमांचकारी है। अगर मालवा को हिन्दू-प्रभाव से बचाना है, तो आपको उसकी शीघ्र ही उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

देहली और गुजरात के मुसलमान शासकों ने विप्लववादियों की बातों पर विश्वास कर लिया, और उन्होंने अपनी-अपनी सेनाएँ मालवा का 'उद्धार' करने के लिए भेज दीं। उधर तो इन सेनाओं ने माँडू पर चढ़ाई की, और इधर विप्लवकारियों ने फिर सिर उठा कर सुलतान महमूद और मेदिनीराय के विरुद्ध विद्रोह की ठानी। अब मालवा में फिर विद्रोहियों के कितने ही सुसंगठित

समुदाय दिखाई देने लगे। परन्तु मेदिनीराय ने भी इस कौशल से उनका सामना किया कि सारे विरोधियों के छक्के छूट गये! गुजरात और देहली की यवन-सेनाओं को मुँह की खानी पड़ी। जो आगे आया उसी पर मोदिनीराय के सिपाही भूखे सिंहों के समान टूट पड़े। कितने ही सैनिक तो भाग गए, कितने ही तलवार के घाट उतारे गये, और कितने ही बेचारे सन्धि द्वारा अपने प्राणों की रक्षा कर सके। जब बड़ी-बड़ी शक्तियों के ही दाँत खट्टे कर दिये गये, तब अल्पसंख्यक विद्रोहियों की तो बात ही क्या थी। उनमें इतना साहस ही शेष न रहा, जो वे मेदिनी-राय के मुक़ाबिले में आकर अपनी उद्दण्डता का परिचय देते। अभिप्राय यह कि मेदिनीराय ने अपने पराक्रम और साहस से मालवा के महत्त्व में बाल बराबर भी अन्तर न आने दिया, और उसे शत्रुओं के पंजे में पड़ने या विद्रोहियों की लीला-भूमि बनने से बचा लिया।

अब विद्रोहियों के लिए कोई चारा न रहा। वे मेदिनीराय द्वारा परास्त हो कर तथा अपने हिमायती शासकों को भी हारा हुआ देख कर बड़े निराश हुए, परन्तु अब भी उनकी ईर्ष्यालुता दूर न हुई थी। वे बराबर इस बात का प्रयत्न करते रहे, कि किसी प्रकार सुलतान का प्रधान सचिव मेदिनीराय पद-च्युत कराया जाय, अथवा उसे मार कर सदैव के लिए मार्ग निष्कण्टक बनाया जाय। अब की बार उन्होंने स्वयम् सुलतान महमूद से दोस्ती कर उसके कान भरना शुरू किया, तथा उसे सुझाया

कि जिस मेदिनीराय पर आप इतना विश्वास कर रहे हैं, उस से बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। वह विश्वासघाती है। मालवा में हिन्दू-राज्य स्थापित करना उसका मुख्य उद्देश्य है। अगर आपने समय रहते मेदिनीराय की उचित व्यवस्था न की, तो उसके कारण निश्चय ही किसी दिन आपको बुरी तरह पछताना पड़ेगा।

सुलतान महमूद अपनी मूर्खता और अदूरदर्शिता के लिए प्रसिद्ध था। कोई भी आदमी उसे बहका-फुसलाकर अपना काम निकल सकता था। सुलतान पर गुट्टबन्दों का जादू चल गया और वह मेदिनीराय के प्राण लेने की घात में रहने लगा। उचित अवसर देख, एक दिन उसने अचानक मेदिनीराय पर आक्रमण किया; परन्तु वह अपने बुद्धि-कौशल से बाल-बाल बच गया। उसका शरीर घायल अवश्य हो गया था, परन्तु उसके प्राणों पर संकट नहीं आया। घायल मेदिनीराय अपने स्थान पर पहुँचा तो, उसके बड़े-बड़े सैनिकों ने उपस्थित हो कर उससे प्रार्थना की कि, अगर आप आज्ञा दें तो हम सुलतान को बल-पूर्वक गद्दी से उतार दें, और इस प्रकार उसे उसकी कुटिलता तथा कृतघ्नता का पूरा मजा चखावें। निःसन्देह आप जैसे सच्चे शुभचिन्तक के साथ उसने बड़ा बुरा व्यवहार किया है, जो हम लोगों को असह्य है। मेदिनीराय ने सैनिकों को समझा-बुझाकर शान्त किया और सुलतान के अपराध की उपेक्षा करते हुए, फिर भी उसी की सेवा में रहने की इच्छा प्रकट की

सुलतान भीरु भी बड़ा था। वह लोगों के बहकाने-फुसलाने से मेदिनीराय पर प्रहार तो कर गया, पर पीछे मारे भय के उस की बुरी हालत हो गई। यहाँ तक कि वह एक दिन अपनी राजधानी माँडू छोड़ कर गुजरात की ओर भाग निकला, और उसने झकोरा नामक गाँव में जाकर शरण ली। वहाँ अहमदाबाद के सुलतान मुज़फ्फ़रशाह ने महमूद का बड़ा स्वागत-सत्कार किया, और अपने पास ही उसके रहने की उचित व्यवस्था भी कर दी। थोड़े दिनों बाद, सुलतान मुज़फ्फ़रशाह एक बड़ी सेना लेकर स्वयम् महमूद के पास आया, और उसका छोड़ा हुआ राज-सिंहासन फिर से उसे दिलाने की चेष्टा करने लगा।

उधर माँडू का शासन पूर्ववत् मेदिनीराय की देख-रेख में था। उसने दरबार में बैठकर कई बार कहा कि, सुलतान महमूद को फिर बुला लेना चाहिए। वह अपने आप गुजरात चले गये हैं। उनके साथ मैंने कोई भी अरुचिकर व्यवहार नहीं किया, और न आगे ऐसा करने का मेरा विचार है। मैं तो सुलतान का वैसा ही विश्वासपात्र सेवक हूँ, जैसा कि पहले था। अगर सुलतान महमूद तशरीफ़ लावें, तो उनके लिए माँडू का राज-सिंहासन सुरक्षित है। मुझे दुःख है कि वह अकारण ही यहाँ से इस प्रकार चले गये। मैं तो चाहता हूँ कि, सुलतान यहाँ आकर अपना राज-काज सँभालें और मेरे स्थान पर किसी दूसरे आदमी को अपना प्रधान मंत्री नियुक्त करलें।

मेदिनीराय के औदार्य की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। उसने अपने ऊपर घातक आक्रमण करने वाले सुलतान के प्रति जो सद्भाव बनाए रक्खे, वह अवश्य ही सराहनीय हैं। इतना ही नहीं, सुलतान के भागजाने पर, मेदिनीराय ने उनके रनवास में रहने वाली स्त्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया। जो व्यय उन्हें पहले दिया जाता था, वही अब भी बराबर जारी रहा। मेदिनीराय को सुलतान महमूद की यह बात बहुत बुरी लगी कि, उसने अपनी गद्दी वापस लेने के लिए गुजरात के बादशाह मुज़फ्फ़रशाह की सहायता लेना उचित समझा। विशेषकर उस समय जब मेदिनीराय ने माँडू की गद्दी उसके लिए सुरक्षित रक्खी थी, और वह वहाँ से उसे स्वयम् वापस बुलाने की चेष्टा कर रहा था। अस्तु,

सुलतान मुज़फ्फ़रशाह की चढ़ाई की ख़बर पाते ही मेदिनीराय माँडू की रक्षा के लिए एक बड़ी सेना नियुक्त कर स्वयम् चित्तौड़ चला गया। वहाँ उसने महाराणा से प्रार्थना की कि, जिस प्रकार सम्भव हो, गुजरात के आक्रमण से मालवा की रक्षा कीजिये। महाराणा साँगा ने मेदिनीराय की सब बातें बड़े ध्यानपूर्वक सुनीं और उसे वचन दिया, कि मैं अपने सीमा-प्रान्त पर चलकर पड़ाव डालूँगा और वहीं से सब घटनाएँ देखता रहूँगा। इस बात पर मेरा सदैव लक्ष्य रहेगा कि तुम्हारे साथ कोई किसी प्रकार का अत्याचार न करने पावे। इसके बाद राणा ससैन्य साराँगपुर पहुँचे, परन्तु वहाँ यह जानकर कि महमूद ने

माँडू की गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया, मेदिनीराय सहित चित्तौड़ लौट आये, क्योंकि अब उधर कुछ कर्त्तव्य शेष न रहा था। चित्तौड़ आकर राणा ने गागरोन आदि कई परगने मेदिनीराय को प्रदान किये, जहाँ मेदिनीराय का पुत्र भीमराज रहने लगा। उधर सुलतान मुज़फ्फ़रशाह भी मालवा की रक्षा के लिए एक बड़ी सेना छोड़कर गुजरात चला गया, और इस प्रकार सारा वायुमण्डल शान्त हो गया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, मालवा-नरेश महमूद ख़िलजी बड़ा मूर्ख और अदूरदर्शी था, उसकी निर्बलता और भीरुता सब को भली भाँति विदित हो चुकी थी। राजनैतिक बुद्धि तो उसके पास भी न फटकी थी, और न उसे वस्तुस्थिति समझने का ज्ञान था। एक दिन उसके मन में उमंग उठी कि गागरोन पहुँच कर मेदिनीराय पर चढ़ाई करनी चाहिए। इस समय यह मेदिनी-राय की सारी सेवाओं को भूल गया, और उसने उनके उपकारों का कुछ भी ध्यान न रक्खा। इतना ही नहीं, मदान्ध महमूद को इस समय यह भी न सूझा कि, मेदिनीराय के जिस इलाक़े पर वह चढ़ाई करने जा रहा है, वह राणा साँगा की दी हुई जागीर है। अपनी जागीर पर किसी के आक्रमण को राणा साँगा कैसे सहन कर सकेगा। अदूरदर्शी स्वार्थी किसी बात के परिणाम को नहीं सोचा करता। महमूद ने भी अपने बुद्धि-विवेक को तिलांजलि दे कर गागरोन पर चढ़ाई कर ही दी। गुजरात के सेनापति आसफख़ाँ की अध्यक्षता में सेना आगे बढ़ी। महमूद ख़िलजी भी

साथ में था। उस समय कदाचित् वह समझता था कि, गुजरात की कुमक क्या मिली विश्व-विजयिनी शक्ति मेरे हाथ आ गई। बेचारा मेदिनीराय तो क्या, अगर राणा साँगा भी सामने आ जाय तो अब मुझ से नहीं जीत सकता ! निदान ऐसी ही कपोल-कल्पनाओं और सुख-स्वप्नों के साम्राज्य में विचरता हुआ ख़िलजी बढ़ा जा रहा था। उसे उस समय उचित अनुचित और न्याय-अन्याय का कुछ भी ध्यान न था।

जब राणा ने गागरोन पर ख़िलजी की चढ़ाई का समाचार सुना तो, वह भी उसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए तैयार हो गया, और उसने तुरन्त उस ओर चढ़ाई करदी, जिस ओर से यवन सैनिक आँधी की तरह बढ़े चले आ रहे थे। एक स्थान पर दोनों सेनाओं में मुठभेड़ होगई, .खूब खाँड़ा खटका और सैनिक लोग कट-कट कर गिरने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि, सुलतान महमूद की फ़ौज बड़ी वीरता से लड़ी, परन्तु वीर राजपूतों के आगे खड़ा रहना उसके लिए असम्भव था। अन्त को यवन-सेना के पाँव उखड़ गए और वह बुरी तरह पराजित हुई। मुसलमानों के बहुत से अधिकारी मार दिये गये, जिससे उनकी लगभग सभी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई। सेनापति आसफ़खाँ का बेटा भी मारा गया, और वह स्वयम् मैदान से बुरी तरह भाग कर अपने प्राणों की रक्षा कर सका। सुलतान महमूद क़ैद कर लिया गया।

एक ओर तो महमूद की अदूरदर्शिता-पूर्ण कार्यवाही और दूसरी तरफ़ राणा साँगा का उदारता-युक्त व्यवहार, दोनों में

बहुत बड़ा अन्तर था। राणा ने बँधुआ महमूद को सीधा अपने निजी तम्बू में भेजा, जहाँ उसके लिए दवा-दारू की समुचित व्यवस्था कर दी गई। थोड़े दिनों बाद क़ैदी महमूद चित्तौड़ लाया गया, और वहाँ तीन महीने तक बराबर उसकी चिकित्सा होती रही। चित्तौड़ में महमूद के लिए सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ करदी गईं थीं। उसे नाममात्र को भी कष्ट नहीं होने पाया। जब उसके घाव ठीक हो गये और वह पूर्ववत् स्वस्थ दिखाई देने लगा, तब महाराणा ने उसे उदारता पूर्वक छोड़ दिया तथा अपने प्रबन्ध में माँडू पहुँचा दिया। इतना ही नहीं, जीता हुआ आधा मालवा प्रदेश भी उसे वापस कर दिया। महमूद ने राणा की पराधीनता स्वीकार कर, उसे नज़राने के तौर पर अपने पूर्व पुरुषाओं का रत्न-जटित मुकुट और अन्य कई वस्तुएँ भेंट की। महाराणा ने सुलतान महमूद के एक बेटे को बन्धक बना कर चित्तौड़ ही में रक्खा, जिससे भविष्य में वह किसी प्रकार की गड़बड़ी न करे।

इस उदारता के लिए महाराणा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। युद्ध के इतिहास में ऐसी अनुपम उदारता बहुत कम देखी जाती है। निश्चय ही वह उदार पुरुष धन्य हैं, जो अपने शत्रु के साथ भी इस प्रकार दयालुता का व्यवहार करते और बदला लेने की भावना को बिल्कुल भूल जाते हैं। महाराणा साँगा द्वारा शत्रु के साथ की गई इस उदारता को, कुछ ऐतिहासिक तो प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं, और कुछ कहते हैं कि पुराने समय में यदि हिन्दू-नरेश अपने वैरियों के

साथ इस प्रकार दयालुता या उदारता न दिखाते—अर्थात् पराजित और शरणागत शत्रुओं को स्वतन्त्र न कर देते—तो भारत विदेशियों के चंगुल में न पड़ता, और इस देश पर मुग़ल शासकों की विजय-पताका न फहराती। जो हो, परन्तु पराजित पराधीन और शरणागत शत्रु के साथ इस प्रकार उदारता दिखाना कम प्रशंसा की बात नहीं है। इस प्रकार के कार्यों से तो राजपूतों का इतिहास भरा पड़ा है। इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि, वीर राजपूतों की रण-क्षेत्र में अपने प्रबल पराक्रम द्वारा शत्रु के दर्प-दलन की जितनी चिन्ता होती थी, उतनी उसके धन-धाम और राज-पाट के अपहरण की नहीं। इसीलिए राजपूत लोग, वैरियों पर अपना पौरुष-पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर, उन्हें बन्धन से मुक्त कर देने में कोई हानि न समझते थे।

शरणागत की सहायता

महाराणा साँगा किसी का अन्याय क्षण भर के लिए भी सहन न कर सकते थे। वह मेवाड़-विरोधी शत्रु-दल का मान-मर्दन तो करते ही रहते थे, यदि किसी अन्य हिन्दू राजा पर भी किसी को अत्याचार करते देखते, तो अत्याचारी को उचित दण्ड देने के लिए तुरन्त तैयार हो जाते थे। इसीलिए राणा को ईडर के कारण भी कई बार गुजरात के शासकों से लोहा लेना पड़ा। ईडर गुजरात के सीमान्त पर स्थित राठौर राजपूतों की एक साधारण-सी रियासत थी। गुजरात के सुलतान का ईडर पर हमेशा दाँत रहता

था। वह नहीं चाहता था कि ठीक उसकी नाक के नीचे राजपूतों का यह ठिकाना क़ायम रहे। इसीलिए ईडर पर राठौरों का अधिकार, उसकी आँखों में काँटे की तरह खटकता रहता था। जब-जब ईडर पर सुलतान ने आक्रमण करने की चेष्टा की, तभी तब महाराणा साँगा ने उसे विफल कर दिया।

ईडर के शासक रावभान, सूरजमल और भीम नामक अपने दो पुत्रों को छोड़कर परलोकवासी होगये थे। पिता के पश्चात् सूरजमल गद्दी पर बैठा; परन्तु वह केवल अठारह महीने राज्य करने के बाद ही पंचत्व को प्राप्त हो गया। सूरजमल के बाद उसका अल्प वयस्क बेटा रायमल ईडर की गद्दी का अधिकारी हुआ; परन्तु उसे उसके काका भीम ने सिंहासन-च्युत कर, स्वयम् ईडर को हड़प लिया। भीम की ऐसी कुचेष्टा से तंग आकर रायमल महाराणा की शरण में चित्तौड़ चला गया। फिर कुछ दिनों बाद भीम का भी देहान्त हो जाने पर उसका पुत्र भारमल ईडर का राव बन बैठा। वयस्क होने पर रायमल ने भारमल से अपनी पैतृक सम्पत्ति माँगी, परन्तु उस ने देने से इन्कार कर दिया। रायमल ने निराश होकर महाराणा साँगा से गद्दी दिलाने के लिए प्रार्थना की, जिसे उन्होंने उचित जान तुरन्त स्वीकार कर लिया, और भारमल को ईडर की गद्दी से हटा कर उस पर रायमल को बैठा दिया।

राज-च्युत भारमल ने कई बार अपना राज्य प्राप्त करने का उद्योग किया। परन्तु उस ने जब अपना कोई चारा चलता न देखा,

तो गुजरात के सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह से फ़रयाद की, और कहा—"साँगा की सहायता से रायमल ने मेरे साथ घोर अन्याय किया है। अगर आप मुझे अपनी सहायता न देंगे तो मेरा जीवन निरर्थक हो जायगा, और मैं किसी प्रकार भी ईडर पर क़ब्ज़ा न कर सकूँगा।" सुलतान भी इन सारी घटनाओं को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहा था, उसने भारमल की प्रार्थना सुनते ही, अपनी एक बड़ी सेना ईडर के लिए रवाना कर दी। गुजराती फ़ौज से रायमल के सैनिक बड़ी वीरतापूर्वक लड़े। इस युद्ध में कभी राजपूतों की जीत होती और कभी यवनों के सफल होने के लक्षण दिखाई देते थे। अन्त में यवनों की विजय हुई, और ईडर की गद्दी पर भारमल का अधिकार हो गया। बेचारा रायमल इस लड़ाई में हार कर बीजानगर की पहाड़ियों पर जा छिपा। भारमल को गद्दी दिला कर सेनापति निज़ामुलमुल्क रायमल की खोज में पहाड़ी प्रदेश की ओर चला, परन्तु पहाड़ियों में से रायमल ने इन लोगों पर ऐसे अचूक आक्रमण किये कि, उन से वह बुरी तरह तंग हो गया। इन लड़ाइयों में गुजराती सेना को मुँह की खानी पड़ी, और उसके कितने ही अफ़सर बुरी तरह मारे गये। अपनी इस भयङ्कर पराजय से सुलतान को बड़ा दुःख हुआ, और उस ने अपने सेनापति को वापस बुला लिया।

रायमल ने महाराणा साँगा की सहायता से फिर ईडर में प्रवेश किया। ज्यों ही यह समाचार सुलतान ने सुना, त्यों ही

उसने भी रायमल का सामना करने के लिए एक बहुत बड़ी सेना भेज दी। दोनों सेनाओं में फिर घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें सुलतानी फ़ौज का सेनापति ज़हीरुलमुल्क बुरी तरह पराजित हुआ, और हज़ारों यवन सैनिक मारे गये। सुलतान की सेना गुजरात की ओर भीरुता से भाग उठी और उसके पाँव बिल्कुल उखड़ गये। सुलतान ने दूसरे सेनापति की अध्यक्षता में फिर फ़ौज भेजी, परन्तु वह भी असफल रही और रायमल के मुक़ाबिले में डट न सकी। निदान कुछ दिनों तक इसी प्रकार जन-संहार होता रहा। जब-जब सुलतान चढ़ाई करता और विजय के लिए सिर उठाता, तभी तब रायमल महाराणा की सहायता से उसका दर्प-दलन कर देता था। मूर्ख सुलतान इतना न सोचता था कि, जिस रायमल की मदद करने के लिए स्वयम् महाराणा साँगा तैयार रहते हैं, उसे परास्त करना कोई खेल नहीं है। अभिप्राय यह कि सुलतान की अनधिकार चेष्टाओं का अन्त न आता था, और वह कोई न कोई कुचाल बराबर चलता ही रहता था।

ईडर की गद्दी पर अभी रायमल का अधिकार न हो पाया था, परन्तु साथ ही उसने भी गुजरात के सुलतान या उसके सर्दारों को चैन से नहीं बैठने दिया। सब सूबेदारों के परास्त होने पर निज़ामुलमुल्क नामक सुप्रसिद्ध सरदार ईडर पर शासन करने के लिए गुजरात से आया। इसकी वीरता और रण-चातुरी की बड़ी प्रसिद्धि थी। कदाचित् सुलतान के पास

इससे अधिक वीर, बुद्धिमान और रण-कुशल दूसरा व्यक्ति न था। निज़ामुलमुल्क बड़ी शान से ईडर में रहने लगा। उसका विचार था कि मेरी समता करने वाला राजपूतों में कोई नहीं है, मेरी धाक और प्रभुता का आतङ्क मान कर रायमल तथा उसके समर्थक राणा को इधर आने का साहस ही नहीं हो सकता।

एक दिन की बात है कि ईडर के दरबार में एक भाट जा पहुँचा। निज़ामुलमुल्क भी वहाँ मौजूद था। दरबारियों की घमण्ड-भरी बातें सुन कर भाट को जोश आ गया, और वह मेरे दरबार में महाराणा साँगा की विरुदावली वर्णन करने लगा। उसने कहा—"ईडर का असली राजा तो रायमल ही है। आप लोग थोड़े दिनों यहाँ रह कर आनन्द मना लीजिए, अन्त में तो ईडर रायमल ही के अधिकार में जायगा और वही उसका अधिपति बनेगा।" घर-घर घूमने वाले एक साधारण भाट की यह हिम्मत कि, वह ईडर के राज-दरबार में ऐसी बातें कहे! राणा साँगा का गुण-गान करता हुआ रायमल को ईडर का उत्तराधिकारी बतावे! भाट की बातें सुनकर निज़ामुलमुल्क के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह बड़े घमण्ड के साथ बोल उठा—"भला राणा साँगा उस पहाड़ी चूहे की क्या मदद कर सकता है। मैं यहाँ मौजूद हूँ, अगर रायमल में साहस है, तो वह यहाँ आया क्यों नहीं? घर बैठ कर डींग मारने से क्या काम चलता है।" भाट ने बड़ी वीरता से कहा—"सूबेदार साहब, घबराइये मत, रायमल बहुत जल्द इधर आ रहा है। आप अपना प्रबन्ध

करें, यों शेखी बघारने से क्या लाभ हो सकता है।" भाट की ऐसी साहस-पूर्ण बातें सुनकर सूबेदार के क्रोध का ठिकाना न रहा, और वह आवेश में आकर राणा तथा रायमल के लिए अपशब्द कहने लगा।

घमण्ड का परिणाम कितना बुरा होता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। जब जिसमें अहङ्कार आया तभी उसका नाश हुआ। इतिहास साक्षी है कि दुरभिमान ने संसार में कैसे घोर अनर्थ किये हैं, और कितने जन-संहार का वह कारण हुआ है। ईडर के सूबेदार निज़ामुलमुल्क द्वारा गाली दिये जाने का समाचार महाराणा के कानों तक भी पहुँचा। वह एक घमण्डी की ऐसी गर्वोक्तियों और गालियों को भला कब सहन कर सकते थे। राणा ने गुजरात पर चढ़ाई करने का निश्चय कर तुरन्त एक बहुत बड़ी सेना लेकर उधर बढ़ना शुरु कर दिया। सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह को जब गुजरात पर राणा के आक्रमण करने का समाचार मिला, तो उसकी हिम्मत टूट गई और वह अपनी राजधानी अहमदाबाद को एक सूबेदार के शासन में छोड़, स्वयम् जान छिपाकर मुहम्मदाबाद चला गया। गुजरात से कई सेनापतियों की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना निज़ामुल मुल्क की सहायता के लिए, इस उद्देश्य से ईडर भेजी गई कि, वह राणा साँगा को बीच ही में परास्त करदे और उन्हें आगे न बढ़ने दे।

जिस समय महाराणा साँगा चालीस हज़ार से अधिक पैदल और घुड़सवार सिपाहियों को लेकर, गुजरात-विजय के

लिए बढ़े, उस समय रणचण्डी प्रसन्न होकर नाचती-कूदती और तालियाँ बजाती थी, उसकी .खुशी का ठिकाना न था। ऐसा मालूम होता था कि अब गुजरात में एक भी यवन बाक़ी न रहेगा, दशों दिशाओं में हिन्दू नरेशों का ही एकछत्र आधिपत्य स्थापति हो जायगा। घोड़ों, हाथियों और पैदल सेना के चलने से आकाश ऐसा धूलि-धूसरित हो गया था, कि सूर्य भगवान् भी कठिनता से दिखाई देते थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो गुजरात से यवनों को बहा लेजाने के लिए राजपूतों का विशाल जन-समुद्र उमड़ा चला आ रहा है। ज्यों-ज्यों महाराणा आगे बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों उनके मित्र नरेश भी अपनी सेना सहित उनके साथ मिलते जाते थे। डूँगरपुर, जोधपुर, मेरटा आदि कितने ही राज्यों के नरेश महाराणा के साथ होलिये, और उनकी सेनाओं ने महाराणा की शक्ति को बहुत कुछ बढ़ा दिया।

महाराणा के दल-बल सहित ईडर पहुँचने से निज़ामुलमुल्क के होश उड़ गये, वह अपनी चतुराई भूल कर किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा होगया। उसे उस समय ईडर की रक्षा का कुछ भी ध्यान न था, और न सुलतान के आदेश-पालन की ही कुछ चिन्ता थी। हाँ यदि कोई चिन्ता थी तो अपने प्राण बचाने और ज्यों-त्यों कर इधर-उधर भाग जाने की। अन्त में उसे अवसर मिल गया और वह प्राण बचा कर अहमदनगर के क़िले में जा छिपा। निज़ामुल-मुल्क के मैदान से भागने के दूसरे दिन महाराणा ईडर पहुँचे, और उन्होंने रायमल को वहाँ की गद्दी पर बिठा कर

उसका राज्याभिषेक किया। रायमल अपने पूज्य पिताजी की खोई हुई सम्पति पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ, और अब वह अपने को सर्वथा निष्कण्टक समझने लगा। परन्तु महाराणा तो निज़ामुलमुल्क का दुरभिमान नष्ट करने के लिए घर से चले थे, उन्हें अभी अपने उद्देश्य में सफलता कहाँ प्राप्त हुई थी ? जब राणा ने सुना कि वह घमण्डी सूबेदार अहमदनगर के क़िले में छिपा हुआ है, तो उन्होंने झट उस पर चढ़ाई करदी और चारों ओर से उस विशाल दुर्ग को घेर लिया।

क़िले का मुख्य द्वार बहुत बड़ा था, उस पर ख़ूब मज़बूत और लम्बा-चौड़ा फाटक चढ़ा हुआ था। फाटक में ऐसी नुकीली कीलें जड़ी हुई थीं कि, जिन पर मद-मत्त हाथी भी टक्कर मारने का साहस न करते थे। कई हाथी उस ओर लाये गये और उन्हें फाटक तोड़ने का संकेत किया गया, परन्तु पैनी कीलों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। शक्तिशाली गजराज उनकी विष-बुझी नोकों को देख कर पीछे हट गए। इस उद्योग में बहुत समय लग गया, परन्तु फिर भी सफलता न हुई। हाथियों में फाटक तोड़ देने की शक्ति तो पर्याप्त थी, परन्तु उन नुकीली कीलों पर पार पाना उनके लिए कठिन काम था। ऐसी रुकावट देख कर वीरवर कान्हसिंह से न रहा गया। उसने फाटक के समीप पहुँच कर अपने सुदृढ़ शरीर से कीलों को ढक दिया तथा वीरता पूर्वक कहा—"महावतो, हाथियों को मेरी तरफ़ बढ़ाओ और मेरे शरीर पर उन्हें धक्का देने दो !

ऐसा करने से फाटक शीघ्र टूट जायगा और गजराजों के विशाल भाल में नुकीली कीलें भी न छिदने पावेंगी। ऐसा ही किया गया, और बात की बात में फाटक खुल गया। क़िले का फाटक तो टूट गया, परन्तु साथ ही वीरवर कान्हसिंह अपनी अमर कीर्त्ति छोड़ कर स्वर्गवासी हो गये! उन्होंने अपने शरीर द्वारा जाति और देश की जो सेवा की, वह सदैव स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगी, और उसके कारण प्रत्येक राजपूत गर्व से अपनी गर्दन ऊँची किये रहेगा। वीर-शिरोमणि कान्ह-सिंह तुम धन्य हो, तुम ने अपने बलिदान द्वारा निराश राजपूत सेना को जीवन प्रदान किया। जब तक संसार में सहृदयता मौजूद है, तब तक तुम्हारे वीर-वर्णन से प्रत्येक हृदय-मन्दिर गूँजता रहेगा।

वीरवर कान्हसिंह के इस अपूर्व बलिदान ने राजपूत-सेना में असीम साहस भर दिया, परन्तु क़िले में छिपे हुए शत्रु इस अघटित घटना को सुनकर काँप उठे। उनके रोमाञ्च खड़े हो गये। "या ख़ुदा! जिस फ़ौज में ऐसे-ऐसे बहादुर मौजूद हैं, वह हमें कैसे ज़िन्दा छोड़ेगी। उफ़! अब क्या है, हमें अपनी ज़िन्दगी की सारी उम्मेदें छोड़ देनी चाहिएँ। देखते नहीं हो, वह फाटक टूट गया और राजपूत सिपाहियों के दल के दल हम पर हमला करने के लिए बढ़े चले आ रहे हैं। अब ऐसी लाचारी की हालत में सिवा ख़ुदाबन्द ताला के हमारी हिफ़ाज़त कोई नहीं कर सकता।"

जिस तरह बाज़ पक्षियों के झुण्ड पर टूट पड़ता है, उसी प्रकार राजपूत-सेना तलवार लिए यवन सिपाहियों पर चढ़ बैठी, और उनका खून पीकर ही पीछे हटी। जो सामने आ गया, उसे ही भगवती भुशुण्डी की भेंट होना पड़ा। जिसने ज़रा कहीं से आखें टिमटिमाईं उसी को राजपूतों के कराल कोप-कोदण्ड का लक्ष्य बनना पड़ा। निज़ामुलमुल्क की तो इस समय बड़ी ही बुरी दशा थी। वह क़िले के चोर दरवाज़े से निकल कर भागने की चेष्टा कर रहा था, कि इतने ही में उसे उस भाट ने देख लिया, और कहा—"ओ! महाराणा का मान-मर्दन करने वाले शेख़ीख़ोर सूबेदार, अब क्यों बग़लें झाँक रहा है! क्या तुझे अपनी उस घमण्ड-घोषणा का ध्यान है! अगर तेरे हृदय में कुछ भी लज्जा शेष है, तो सामने आ और उस प्रबल पराक्रमी वीर-पुंगव से आखें मिला कर दो बातें कर। अरे कायर! अपने घर पर बैठ कर तो कुत्ता भी भूँकने लगता है, बिल में तो चूहा भी अपने को सिंह-शावक से कम नहीं समझता। तू क्या किसी कायर से कम है। आ, आ, ज़रा उस नर-सिंह की ओर चल और अपने उन्हीं वाक्यों को फिर दुहरा कर देख! भागा कहाँ जाता है, मुँह छिपा कर चोरों की तरह निकल जाना, ईडर के घमण्डी सूबेदार के लिए शोभा की बात नहीं है। ठहर! ठहर!! तनक अपने वीरत्व का परिचय दे। उस सर्व-संहारिणी राजपूत-सेना से थोड़ी देर तो टक्कर ले। ओ! डरपोक! आज तेरा वह शौर्य, पराक्रम और बल-वीर्य

कहाँ गया। अब तो तेरे मुँह से उस गर्वोक्ति का एक अक्षर भी नहीं निकलता। सर्दार कुछ तो बोल, ज़रा तो हिम्मत से काम ले। भीरुता पूर्वक भाग जाना तेरे लिए घोर निर्लज्जता की बात है।"

इस समय निज़ामुलमुल्क की बहुत बुरी दशा थी। उसे पैरों तले से ज़मीन निकलती-सी प्रतीत होती थी। वह भला उस भाट की तीख-भरी बातों में क्या लेता। उस पर तो अपनी प्राण-रक्षा की धुन सवार थी। ज्यों-त्यों कर, वह कायर समीपस्थ नदी के किनारे, गुजरात से आई हुई सेना में जा पहुँचा और उसके बल-बूते पर फिर फुंकारने लगा। ज्यों ही महाराणा को निज़ामुलमुल्क की इस कुचेष्टा का पता लगा, त्यों ही उन्होंने अपनी सेना का रुख़ उधर कर दिया। वीर राजपूत तुरन्त सुलतानी फ़ौज पर टूट पड़े, जिससे उसमें बुरी तरह भगदड़ मच गया। कितने ही यवन सिपाही इस लड़ाई में मारे भी गये। सूबेदार निज़ामुलमुल्क अहमदाबाद की ओर भाग गया। उस पर महाराणा के भय का भूत बुरी तरह सवार था। पकड़े जाने के डर से वह सीधे मार्ग द्वारा अहमदाबाद न जाकर टेढ़े-तिरछे रास्ते होकर गया। शेष मुसलमान सरदारों ने निज़ामुलमुल्क का पदानुसरण करने में लज्जा अनुभव की, और वे सीधे रास्ते से अहमदाबाद के लिए रवाना हुए। उनको राजपूत सेना ने रोक कर मार डाला और उनकी हाथी-घोड़े आदि बहुत सी समर-सामग्री अपने क़ाबू में करली। महाराणा ने अहमदनगर

को अपने अधिकार में कर, उसमें ख़ूब लूट-मार की तथा वहाँ के रहने वाले मुसलमानों को क़ैद कर लिया।

अहमदनगर जीत कर महाराणा बदनगर पहुँचे, और वहाँ भी उन्होंने मार-काट की तैयारी करदी, परन्तु इस नगर के रहने वाले ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों ने महाराणा से अभयदान की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और अपनी सेना को आज्ञा देदी कि ब्राह्मणों के साथ कोई किसी प्रकार का अनुचित बर्त्ताव न करे। बीसलनगर पहुँच कर महाराणा साँगा ने सूबेदार हातिमखाँ का बध किया और नगर में लूटमार मचा दी। अब क्या था गुजरात में सर्वत्र महाराणा की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। वह जिधर जाते उधर ही मैदान साफ़ पाते। किस का साहस था जो राणा के सामने आकर अपने प्राणों को संकट में डालता। सुलतान मुज़फ़्फ़र-शाह का तो कहीं नाम भी सुनाई न देता था। यह भी न जाना जाता था कि वह जीवित है अथवा मर गया। जब महाराणा ने देखा, कि गुजरात में उनके सामने कोई नहीं पड़ता, बड़े-बड़े यवन सर्दार मुँह छिपाये घरों में पड़े हैं, स्वयम् सुलतान तक मैदान में आने का साहस नहीं कर रहा, तो वह चित्तौड़ के लिए चल दिये। रायमल, जिसके कारण यह सब चढ़ाई की गई थी, ईडर की गद्दी पर अभिषिक्त हो ही चुका था, अतएव अब राणा के लिए कोई चिन्ता की बात न थी। वह अपनी विजय-दुन्दुभि

बजाते हुए सकुशल स्वदेश लौट गए, और सारे देश में उनकी प्रचण्ड वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी।

सुलतान की निराशा

गुजरात प्रान्त की बड़ी बुरी दशा थी, सर्वत्र भयङ्करता ही भयङ्करता दिखाई देती थी। एक प्रकार से इस सुन्दर प्रदेश ने श्मशान का-सा रूप धारण कर रक्खा था। जिधर देखो उधर ही महाराणा साँगा का आतंक छाया हुआ था। राणा के भय से लोग घरों में छिपे पड़े रहते थे। बड़े-बड़े सर्दारों और सेना-नायकों की, कायरों से भी बुरी दशा होगई थी। जब सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह को विश्वास होगया, कि अब महाराणा साँगा गुजरात छोड़कर मेवाड़ चले गए, तब उसने अपने अज्ञातवास से निकल कर अहमदाबाद की ओर मुँह किया। परन्तु अब वहाँ क्या रक्खा था। अपने वैभव को खँडहरों में परिणत देख कर सुलतान को महान् दुःख हुआ। जब उसे मालूम हुआ कि उसकी सेना के अगणित सिपाही और कितने ही मुख्य-मुख्य सर्दार, राजपूतों के प्रबल प्रहारों से परलोक-यात्रा कर गये, तब तो उसे और भी अधिक दुःख हुआ। पर अब वह कर ही क्या सकता था, उसके बस की बात ही क्या रह गई थी। परन्तु नहीं, भागे हुए भीरु सुलतान के हृदय में एक बार फिर मेवाड़ पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। उसने सोचा कि राजपूतों की जिस प्रबल शक्ति ने गुजरात की यह

दुर्दशा कर दी है, वह जब तक समूल नष्ट न हो जाय तब तक चैन से न बैठना चाहिए। फिर क्या था, सैनिकों की भर्त्ती शुरू हो गई। हज़ारों सिपाही दूनी तनख़्वाहों पर भर्त्ती किये जाने लगे। यहाँ तक कि उन्हें एक-एक साल का वेतन पेशगी दिया गया, जिससे वे पूर्ण रूप से निश्चिंत तथा सन्तुष्ट रहें और शत्रु की सेना से कट-कट कर लड़ें।

सेना भर्त्ती हो चुकने पर सुलतान ने मेवाड़ पर चढ़ाई की। तीन बड़े सेनापतियों की अध्यक्षता में लगभग डेढ़ लाख फ़ौज ने चित्तौड़ की ओर कूँच किया। मार्ग में जो भी हिन्दू-राज्य आते गये, उन्हें भी यह विशाल सेना नष्ट-भ्रष्ट करती गई। डूँगरपुर का नाश करती हुई यवन-सेना बाँसबाड़े की ओर पहुँची, और वहाँ से चलकर उसने मालवा के मन्दसौर नामक स्थान पर पड़ाव डाला। मन्दसौर का क़िला महाराणा साँगा के अधिकार में था। सुलतान की फ़ौज ने उपर्युक्त दुर्ग के शासक अशोकमल को तो मार दिया, परन्तु फिर भी क़िला उसके अधिकार में न आया। जब राणा साँगा ने अपने क़िले पर यवनों द्वारा आक्रमण किए जाने की बात सुनी, तो वह एकदम क्रोध से काँपने लगे, और तुरन्त सुलतान की सेना का सामना करने के लिए तैयार हो गये। राणा ने आवेश-पूर्ण स्वर में कहा—"न जाने ये कायर उस समय कहाँ चले गये थे, जब राजपूत सेना गुजरात में प्रलय-काण्ड उपस्थित कर रही थी, यवन सिपाहियों को खोज-खोज कर

यमपुर पहुँचा रही थी। अच्छा ठहरो, अब इनका रहा-सहा भी दर्प-दलन किए देता हूँ, जिससे फिर कभी इनको सिर उठाने का साहस ही न हो, और ये कभी मेवाड़ की ओर मुँह करने का नाम भी न लें।"

महाराणा ने भी एक बड़ी सेना साथ लेकर चित्तौड़ से कूच किया, और आगे बढ़कर सुलतान की फ़ौज से लोहा लेने की ठानी। जब राणा की वीरवाहिनी ने, मन्दसौर के समीप नन्दसा नामक स्थान पर पड़ाव डाला, तो यवन-सेना के छक्के छूट गए! उसके बड़े-बड़े सेनापति मारे भय के काँपने और कहने लगे—"उफ़! बड़ा मुशकिल मुक़ाबिला है, जिस वीरवर राणा ने हमारे देश गुजरात में पहुँच कर अपना अनुपम आतङ्क स्थापित कर दिया, वह भला अपनी राज्य-सीमा में क्या न कर दिखायेगा! वह जो न करे थोड़ा है। राजपूत जाति वास्तव में बड़ी बहादुर है, मर कर देश की रक्षा करना इन्हीं लोगों का काम है। युद्ध में प्राण देकर जीत को यही लोग छीन ले जाते हैं।"

मन्दसौर के मैदान में बड़ी भारी मोर्चाबन्दी हुई। सुलतान की सहायता के लिए मालवा से महमूद ख़िलजी भी अपने दल-बल सहित आ गया। और भी कितने ही सहायकों ने आकर मैदान में पड़ाव डाल दिए। उन सबको हर वक़्त यही चिन्ता थी कि मवाड़ की शक्ति नष्ट-भ्रष्ट कर, किस प्रकार निष्कण्टक राज्य किया जाय। उधर महाराणा भी अकेले न थे, उनकी मदद के लिए भी अनेक राजपूत नरेश अपनी सेनाओं समेत रणक्षेत्र

में आ पहुँचे थे। सर्वत्र नर-मुण्ड ही नर-मुण्ड दिखाई देते थे। ऐसा मालूम होता था कि अबकी बार फिर वीरों के भयङ्कर रक्त-पात से ख़ून की नदियाँ बहे बिना न रहेंगी, और लोथों के पहाड़ चुन जायेंगे।

महायुद्ध प्रारम्भ होने वाला था, राजपूत अपनी चमचमाती तलवारों को शत्रुओं का रक्त-पान कराने के लिए व्याकुल हो रहे थे। स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर प्राणों की आहुतियाँ देने को सब सैनिकों के हृदय उछल रहे थे। परन्तु अचानक परिस्थिति बदल गई और मालवा के सुलतान महमूद ख़िलजी ने यवन महारथियों को समझा-बुझाकर वापस कर दिया। ख़िलजी ने गुजरात-सेनापति से बड़ी गम्भीरता पूर्वक कहा—"भाई, तुमको अभी राजपूतों का अनुभव नहीं हैं, मैं उनकी वीरता को देख चुका हूँ। वे स्वतन्त्रता और स्वदेश-रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राणों की आहुति दे देते हैं। वे साधारण-सी बात के लिए योंहीं जान पर खेल जाते हैं। सूबेदार, सच समझना, राजपूत मरने को कुछ बड़ी बात नहीं समझते। मैं नहीं जानता कि किराए पर बुलाई हुई तुम्हारी यह सेना, इन रणबाँकुरे राजपूतों के सामने कैसे ठहर सकेगी। मैं तो समझता हूँ अगर तुम्हें अपने सिपाहियों तथा अस्त्र-शस्त्रों को व्यर्थ बरबाद नहीं करना और स्वयम् जीवित रहना है, तो तुरन्त महाराणा से सन्धि कर, गुजरात वापस चले जाओ। ऐसा कह कर मैं तुम लोगों को कायर नहीं बनाता, बल्कि तुम्हारा एक शुभचिन्तक होने के नाते,

अपने अनुभवों के आधार पर ठीक-ठीक सलाह दे रहा हूँ, उसका मानना न मानना तुम्हारे अधिकार में है।"

सुलतान ख़िलजी की बातों का गुजरात-सेनापति पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह महाराणा से बिना युद्ध किये ही वापस चला गया। और भी सेनाएँ जो गुजरात की सहायता के लिए आई थीं, बिदा हो गईं। जिस समय यवन-सेना गुजरात पहुँची, उस समय मुज़फ्फ़रशाह को बड़ा दुःख हुआ। कुछ लोगों ने तो सेनापतियों को कायर बता कर उनकी निन्दा भी की। गुजरात की प्रजा ने इनका बिल्कुल स्वागत न किया। स्वागत करना तो अलग रहा, सबने उन्हें निर्लज्ज और डरपोक कह कर पुकारा।

यवन-सेना के गुजरात लौट जाने पर, राजपूतों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, वे हर्ष पूर्वक कहने लगे—"अच्छा ही हुआ जो वे लोग चुपचाप वापस चले गये, नहीं तो अब इनकी कुशल न थी। एक-एक गुजराती से पाँच-पाँच राजपूत चिपटने के लिए तैयार थे। खेद इतना ही है कि हमारी लपलपाती और चमचमाती हुई तलवारें शत्रुओं का शोणित पान न कर सकीं। अब वे हमें प्यासी ही म्यानों में बन्द करनी पड़ेंगी। ओ! यवन-सेना, मैदान में आकर इस प्रकार भाग जाना तेरे लिए उचित न था। वीरों के लिए यह बात बड़ी ही हास्यास्पद है। वे तो रणभूमि में आकर दो ही काम करते हैं। या तो प्राणों की आहुति देकर वीर-गति को प्राप्त होते हैं, अथवा बजयी होकर घर जाते हैं। निर्भय सिंह की तरह दहाड़ कर

कायर कूकरों की भाँति भाग जाना कहाँ की वीरता है यह बात हमारी समझ में नहीं आती। आओ, आओ, गुजरात के वीरो आओ, एक बार तो, इस समरांगण में आकर अपना पौरुष-पराक्रम दिखाओ। वीरता का बाना धारण कर क्या इस प्रकार की कायरता किसी को शोभा देती है। मेवाड़ को नष्ट-भ्रष्ट करने का सुख-स्वप्न देखने वाले बहादुरो, किधर जा रहे हो, आओ चित्तौड़-विजय करने से पहले मैदान में डटे हुए हम लोगों से टक्कर लो।"

हत्यारे की हित-रक्षा

गुजरात-सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह, राणा साँगा के आक्रमणों से बड़ा व्याकुल था। वह बहुत चाहता था कि किसी प्रकार इस राजपूत नरेश के दाँत खट्टे किए जाँय, परन्तु ऐसा करना उसकी शक्ति के बाहर था। उसने राणा को नीचा दिखाने की कई बार चेष्टा की, परन्तु वह उसमें सफल न हो सका। सुलतान पर एक ओर तो राणा को परास्त करने की चिन्ता सवार थी, दूसरी ओर गृह-कलह का दुःख उसे तंग कर रहा था। उसके आठ पुत्र थे, परन्तु आठों में बड़ा वैमनस्य उत्पन्न होगया था। एक भाई दूसरे के प्रति कभी सद्भाव प्रदर्शित न करता था। सुलतान का बड़ा बेटा सिकन्दरशाह नियमानुसार गद्दी का अधिकारी था, और उसे ही उसने अपना युवराज बनाने की घोषणा भी करदी थी। शेष सात बेटे जागीरें दे-देकर अलग कर दिये गये थे।

मुजफ़्फ़रशाह के एक बेटे का नाम बहादुरख़ाँ था। वह बड़ा चालबाज़ और षड़यन्त्री था। उसे हर वक्त यही चिन्ता रहती थी कि अपने बड़े भाई सिकन्दरशाह को पदच्युत कर, किसी प्रकार स्वयम् गुजरात की गद्दी का अधिकारी बन जाय। वह अपनी इस दुर्भावना की पूर्त्ति के लिए, यथासम्भव प्रयत्न भी करता रहता था। बहादुरखाँ के हृदय में एक जलन और थी। उसे राणा साँगा का भी ऐश्वर्य एक आँख न भाता था। वह सदैव उनके प्रति आन्तरिक ईर्ष्या-द्वेष रखता परन्तु बाहर से मिला रहता था।। वास्तव में उसकी इच्छा चित्तौड़गढ़ जीतकर उस पर अपना इस्लामी झण्डा फहराने की थी।

बहादुरख़ाँ का मनोभाव धीरे-धीरे सब पर प्रकट होगया। सिकन्दरशाह तथा उसके सिपाही भी इस गूढ़ रहस्य से परिचित होगए। परिणाम यह हुआ कि दोनों भाइयों में दल-बन्दी की आग भड़क उठी और उस ने उग्र रूप धारण कर लिया। सिकन्दरशाह की शक्ति बहुत बड़ी थी। उसका सामना करना बहादुरख़ाँ के लिए कठिन था। यह सोचकर बहादुरख़ाँ अपनी प्राण-रक्षा के लिए, कहीं भाग जाने का प्रयत्न करने लगा। बहुत सोच विचार के बाद उसने चित्तौड़ पहुँच कर महाराणा साँगा की शरण ली। इस समय उसने यह नहीं सोचा कि जिस राणा को पराजित करने की दुर्भावना मेरे हृदय में सदैव बनी रहती है, उसी की शरण में जाकर अपने प्राण बचाना कम निर्लज्जता की बात नहीं है। महाराणा ने अपने शरणागत का

ख़ूब स्वागत-सत्कार किया तथा उसे सब प्रकार से अभयदान दिया। बहादुरख़ाँ के साथ मेवाड़ राज-परिवार ने यहाँ तक हित दिखाया कि महाराणा की माता भी उसे पुत्र कह कर पुकारने लगीं।

एक दिन एक बड़े भोज के उपलक्ष्य में, जब नाच होरहा था, और नाचने वाली स्त्री हाव-भावों से बहादुरख़ाँ को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी, उस समय बहादुरख़ाँ ने नर्तकी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसका परिचय प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। इतने ही में महाराणा का भतीजा बोल उठा—"बहादुरखाँ, इस नाचने वाली को आप नहीं जानते ! यह तो आपके गुजरात ही की रहने वाली है। इसके पिता अहमदनगर के काज़ी थे। पूज्य काकाजी ने जब गुजरात पर चढ़ाई की थी, उस समय काज़ी के मारे जाने पर उसके परिवार की स्त्रियों को राजपूत सरदार अपने साथ ले आए थे।"

बहादुरख़ाँ को यह बात विष-बुझे बाण के समान लगी। आन्तरिक द्वेष की ज्वाला उसके हृदय में एक दम प्रज्वलित हो उठी, और उसकी आँखों के आगे गुजरात की बरबादी का सारा दुर्दृश्य अङ्कित होगया। वह मन ही मन कहने लगा--"आह ! अहमदनगर के काज़ी की बेटी, चित्तौड़ में वेश्या बनाकर नचाई जाय ! और वह भी मेरे सामने ! इससे अधिक मुसलमानों का अधःपतन और क्या हो सकता है ! इससे ज्यादा हम लोगों के लिए बेशर्मी और कौनसी होगी !! क्या ऐसे दुर्दृश्य देखकर

भी हम अपने को बहादुर कहलाने का दावा रखते हैं ! क्या इस प्रकार की घटनाएँ, किसी जीती-जागती जाति की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त नहीं है ?" अपने काज़ी की बेटी को नर्तकी के रूप में नाचते देख बहादुरख़ाँ को अपार दुःख हुआ। वह अपने आवेश को रोक न सका और उसने महाराणा के भतीजे पर, जिसने यह बात बताई थी, ऐसा खड्ग-प्रहार किया कि उसका सिर धड़ से अलग होकर दूर जा पड़ा ! रँग में भंग होगया !!

महाराणा साँगा के भतीजे का बध होना था कि उपस्थित राजपूतों के तन-बदन में आग लग गई। वे बहादुरख़ाँ का ख़ून पीने के लिए बुरी तरह व्याकुल हो उठे ! इस अवसर पर महाराणा ने बड़ी उदारता से काम लिया, उन्होंने घोषणा करदी कि कोई सैनिक बहादुरख़ाँ से हाथ न लगाने पावे। वह शरणा-गत है, उसे अभयदान दिया गया है। शरण आए हुए पर प्रहार करना हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। हमारा कर्त्तव्य है कि उसका बाल भी बाँका न होने दें। बहादुरख़ाँ ने जो कुछ किया वह अवश्य ही अनुचित और अक्षम्य है, फिर भी मैं उसे सकुशल रखने के लिए वचनबद्ध हूँ। मेरा काम है कि मैं उस पर किसी का प्रहार न होने दूँ ।

महाराणा की माता ने भी तुरन्त आदेश भेजा कि राजपूत लोग इस शरणागत को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचावें। क्योंकि जिसे मैंने पुत्र के समान प्यार किया है, उसका अनिष्ट देखना मेरे लिए असह्य होगा। महाराणा और राज-माता के

आदेश से राजपूत लोग शान्त रहे और उन्होंने बहादुरख़ाँ पर प्रहार न किया। परन्तु उस दिन से वह सबकी निगाहों में गिर अवश्य गया। प्रत्येक राजपूत बहादुरख़ाँ को घोर घृणा की दृष्टि से देखता था। अपने अनादर के कारण बहादुरख़ाँ भी अधिक दिनों तक चित्तौड़ में न रह सका, और एक दिन अवसर मिलने पर वह तुरन्त मेवात के लिए रवाना होगया।

इस उदारता के लिए महाराणा साँगा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। यवन-सर्दार बहादुरख़ाँ चित्तौड़ में बैठ, सबके सामने, अकारण एक राजकुमार का बध करता है, परन्तु बदले में उसे फिर भी प्राण-दान दिया जाता है! राणा और उसके कुटुम्बी, आँखों के सामने अपने एक नवयुवक की हत्या होजाने देते हैं, परन्तु शरणागत हत्यारे से यह भी नहीं कहते कि तूने यह क्या किया! निःसन्देह ऐसी उदारता का उदाहरण राजपूतों के ही इतिहास में मिल सकता है। हिन्दू मनोवृत्ति और हिन्दू संस्कृति में ही ऐसी विशालहृदयता की कल्पना की जा सकती है। जिस जाति में ऐसे उदार भाव मौजूद हों, फिर भी उसका अनिष्ट होना दैवी कोप के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

चित्तौड़ में बहादुरख़ाँ ने ही शरण नहीं ली, बल्कि सुलतान मुज़फ्फ़रशाह के दो और बेटों ने भी महाराणा के आश्रय में आकर अपने प्राणों की रक्षा की। बात यह हुई कि जब मुज़फ्फ़रशाह का देहान्त होगया तो उसके बड़े बेटे सिकन्दरख़ाँ को गुजरात की गद्दी पर बैठते देख, चाँदख़ाँ और लतीफ़ख़ाँ

(सुलतान के छोटे बेटे) को बड़ी ईर्ष्या हुई । इस ईर्ष्यालुता के कारण सेना भी दो भागों में विभक्त होगई, और युद्ध के ठाठ रूपने लगे । सिकन्दरख़ाँ की शक्ति प्रबल थी अतएव वह राज-सिंहासन पर बैठ गया, और उसके उपर्युक्त दोनों भाइयों की कुछ न चली । सिकन्दरख़ाँ के हाथ में शासन-सूत्र आते ही दोनों भाइयों को अपने प्राणों की चिन्ता हुई । वे डरने लगे कि कहीं सिकन्दरख़ाँ अपना मार्ग निष्कंटक करने की इच्छा से हमें मरवा न डाले । इसी डर से घबरा कर चाँदख़ाँ तथा लतीफ़ख़ाँ दोनों चित्तौड़ की ओर चल पड़े और महाराणा की शरण में जा पहुँचे। महाराणा साँगा ने अपने स्वभावानुसार उन्हें अभयदान दे तथा सब प्रकार की सुविधा पहुँचाकर, बड़े आराम से रक्खा ।

उधर सिकन्दरख़ाँ ने गुजरात की बागडोर सँभालते ही पहला हुक्म यह दिया कि ये दोनों विद्रोही भाई पकड़ कर उसके सामने पेश किए जायँ । इस काम के लिए मलिक लतीफ़ नामक एक सर-दार नियुक्त किया गया, उसे सेना भी पर्याप्त संख्या में दी गई । मलिक साहब ने बड़ा ऐंठ-अकड़ के साथ शाहज़ादों को पकड़ने के लिए चित्तौड़ की तरफ़ कूच किया, परन्तु महाराणा के एक राजपूत सर्दार ने आकर, उसके सारे इरादों पर पानी फेर दिया । मलिक लतीफ़ एक झटके का भी न हुआ । महाराणा को परास्त करने के प्रयत्न में बेचारा बुरी तरह मारा गया । उसके १७०० सिपाही भी रणचण्डी की भेंट हुए, और जो बचे थे वें भयभीत होकर गुजरात भाग गए ।

इन घटनाओं से भली भाँति सिद्ध है कि राणा साँगा को अपने कर्त्तव्य-पालन में किसी जाति विशेष का पक्षपात न था। अवसर आने पर उन्हें अपने शत्रुओं को भी आश्रय देने में कभी संकोच नहीं हुआ। केवल आश्रय ही नहीं दिया, उनकी सब प्रकार से रक्षा भी की, और जब तक वे उनकी संरक्षकता में रहे किसी का बाल भी बाँका न होने पाया। ऐसी सहृदयता-पूर्ण घटनाएँ, लड़ाई के इतिहास में बहुत कम मिलती हैं। इनसे जहाँ आश्रयदाता की उदारता और उच्चाशयता का परिचय प्राप्त होता है, वहाँ उसके विशिष्ट कर्त्तव्य-पालन का बोध भी भले प्रकार हो जाता है। महाराणा साँगा यदि चाहते तो सुलतान मुज़फ्फ़रख़ाँ के इन शरणागत पुत्रों के साथ बुरे से बुरा व्यवहार कर सकते थे। आश्रय-दान देने से इन्कार कर देना तो उनके अधिकार की बात थी। परन्तु राणा तो वीर राजपूत थे। अत्याचार-पीड़ितों और आपत्तिग्रस्तों की सेवा-सहायता करना, तथा उनका पक्ष लेकर अपने प्राणों की बाज़ी लगा देना उनके लिए एक मामूली काम था। यही कारण है कि कट्टर से कट्टर शत्रु भी अपने हथियार पटक कर राणा के दरबार में निर्भयता पूर्वक चला जाता, और उसे उस समय अपने जीवन के संकट में पड़ जाने की बिल्कुल चिन्ता न होती थी।

संघटन में विघटन

यों तो मेवाड़ की महिमा पहले ही से घर-घर गाई जाती थी, परन्तु जब से राणा संग्रामसिंह चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर

विराजे, तब से तो उसका प्रताप-मार्तण्ड अपनी अपूर्व आभा से देदीप्यमान हो उठा। सारे देश में महाराणा साँगा के बल-विक्रम और औदार्य की चर्चा होने लगी। उनके आतङ्क-पूर्ण शासन से सारे खण्ड-मण्डलेश्वर दहला गये। दुस्साहस पूर्वक जो शासक उनके सामने आया वही मुँह की खाकर पीछे हटा, अथवा प्राण-विसर्जन कर यमपुर का पथिक बना! राणा साँगा ने मालवा का अधिकांश अपने अधिकार में कर लिया था।

रणथम्भोर, गागरोन, कालपी, भिलसा और चंदेरी चित्तौड़ के करद राज्य थे। अजमेर और आबू में साँगा के सूबेदार शासन करते थे। मेवात राणा की प्रबल सत्ता का सिक्का मान ही चुका था। ग्वालियर, आम्बेर और मारवाड़ के अधिपतियों को उसकी प्रभुता स्वीकार करने में कोई संकोच ही न था। वे तो युद्ध-काल में, मित्र-राज्यों की भाँति सदैव उसकी सेवा-सहायता के लिए तैयार रहते थे। महाराणा साँगा ने देहली के सुलतान का मुँह मोड़ कर, आगरे के समीप, अपने राज्य का उत्तरीय "सीमा-स्तम्भ" स्थापति किया था। गुजरात को लूट-मार कर राणा ने पहले ही छोड़ दिया था। अभिप्राय यह कि उस समय देश में जितनी राज-सत्ताएँ थीं, सब महाराणा के प्रचण्ड प्रताप-सूर्य के आगे मन्दप्रभ हो रही थीं। जिसकी जो सीमा निश्चित थी, उससे आगे बढ़ने का किसी को स्वप्न में भी विचार न होता था। होता भी कैसे, महाराणा का भय जो सदैव सब पर सवार रहता

था। ज़रा किसी ने सिर उठाया कि उसे मेवाड़ाधिपति के कोप-कोदण्ड का लक्ष्य बनना पड़ा।

उस समय ऐसा कोई बादशाह या राजा न था, जिसने राणा के हाथ से किसी न किसी रूप में करारी हार न खाई हो। दिल्ली के सम्राट् से लेकर साधारण राव तक को चित्तौड़ का सिक्का मानना ही पड़ता था। सचमुच संघटन में बड़ा बल होता है। देश पर बलिदान होने की स्वाभाविक भावना बड़े-बड़े सत्ताधारियों का मान-मर्दन कर देती है। स्वदेश-रक्षा की सच्ची लगन के आगे, विघ्नों के विशाल पर्वत भी रेणु-रूप में परिणत हो जाते हैं। उस समय मेवाड़ का महत्त्व और संघटन ही ऐसा था। वहाँ का शासक ही इतना रण-कुशल और प्रबल पराक्रमी था कि उसने अपनी प्रबन्ध-पटुता से सब के हृदय मुट्ठी में कर लिए थे।

महाराणा साँगा के २८ रानियाँ, ७ पुत्र और ४ पुत्रियाँ, कुल ३९ परिजन थे। पुत्रों के नाम क्रम से भोजराज, कर्णसिंह, रत्नसिंह, पर्वतसिंह, कृष्णदास, विक्रमादित्य और उदयसिंह थे। राणा का ज्येष्ठ पुत्र भोजराज, जिसका विवाह मीराबाई के साथ हुआ था, थोड़ी ही आयु में परलोक-वासी हो गया। इसके बाद राणा ने रत्नसिंह नामक अपने दूसरे पुत्र को युवराज-पद प्रदान किया। यह राजकुमार रानी धनकुमरि के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। राणा की रानियों में-से दो रानियाँ बूँदी-नरेश नरवद-हाड़ा की पुत्रियाँ थीं। इनमें से करमेतन नामक रानी से,राणा के

उदयसिंह और विक्रमादित्य दो पुत्र थे। करमेतन पर राणा का सब से अधिक विश्वास और प्रेम था। रानी करमेतन ने अपने दोनों पुत्रों के योग-क्षेम के लिए, महाराणा से रणथम्भोर का परगना जागीर रूप में प्रदान करने की प्रार्थना की, जिसे राणा ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया।

अब रानी ने सोचा कि भला ये दोनों सुकुमार राजकुमार इतनी बड़ी जागीर का प्रबन्ध-भार कैसे सँभाल सकेंगे, अतएव इसके लिए कुछ व्यवस्था और करानी चाहिए। बहुत सोच-विचार के उपरान्त रानी ने अपने भाई सूरजमल को, दोनों राजकुमारों का संरक्षक बनाने की बात तय की, और उसके लिए महाराणा की स्वीकृति चाही। महाराणा ने भरे दरबार में स्वीकृति देते हुए घोषणा कर दी कि, सूरजमल हाड़ा अब से रणथम्भोर परगने के प्रबन्धक और दोनों राजकुमारों के अभिभावक की हैसियत से काम करेंगे। सूरजमल हाड़ा मेवाड़-राज्य के सब से बड़े बहादुर योद्धा और परम कुशल राजनैतिक थे। उन्हें अपनी शक्तियाँ छोटे-से परगने में सीमित होते देख, वहाँ जाने की अनिच्छा अवश्य हुई, परन्तु महाराणा के अधिक आग्रह वश, उन्हें यह कार्य-भार सँभालना ही पड़ा।

रानी करमेतन महाराणा साँगा से अपने पुत्रों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था कराने में सफल अवश्य हो गईं, परन्तु इस कार्य का प्रभाव राजकीय पुरुषों पर अच्छा नहीं पड़ा; वह लोग रानी के इस स्वार्थपूर्ण व्यवहार से असन्तुष्ट हो गए।

जिससे पारस्परिक अनैक्य और मनोमालिन्य का सूत्रपात हुआ, तथा मेवाड़ के सुदृढ़ संघटन में विघटन के चिह्न दिखाई देने लगे।

बाबर की विजय-यात्रा

ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर ने १४८३ ई० में जन्म ग्रहण किया था। बाबर के पिता उमरशेख़ मिर्ज़ा एक छोटी-सी सल्तनत के स्वामी थे। उनकी मृत्यु एक मकान के गिरजाने से हुई। बाबर के दो छोटे भाई और थे, जिनके नाम जहाँगीर मिर्ज़ा और नसीर मिर्ज़ा थे। बाबर अपने पिता की मृत्यु के पश्चात्, ११ साल की आयु में, फ़रग़ाना का शासक नियुक्त हुआ। बाबर के जन्म का नाम ज़हीरुद्दीन मुहम्मद था, परन्तु उच्चारण की सरलता के लिए, चग़तई लोग उसे 'बाबर' कहने लगे थे। पीछे यही उपनाम अधिक प्रचलित हो जाने के कारण, ज़हीरुद्दीन मुहम्मद के नाम का एक आवश्यक अंग बन गया और लोग उसे 'बाबर' कह कर ही पुकारने लगे।

बाबर प्रारम्भ से ही बड़ा वीर और विजयी था। १५ वर्ष की आयु में ही उसने समरक़न्द अपने अधिकार में किया। इस शहर की गणना बड़े शहरों में थी। यह किसी समय तैमूरलंग की राजधानी रहा था। कुछ दिनों बाद भाइयों में फूट फैल जाने के कारण सैनिकों और सर्दारों में भी भेद-भाव हो गया, और चारों ओर दलबन्दी ही दलबन्दी दिखाई देने लगी। इस आपस की लड़ाई का फल भी बुरा निकला। बाबर ने भाइयों के माँगने पर

समरक़न्द उन्हें राज़ी से न दिया तो उन्होंने छल-बल से उसे छीन लिया। समरक़न्द ही नहीं, फ़रग़ाना का बहुत-सा भाग भी बाबर के हाथ से निकल गया। इस से बाबर को बड़ा दुःख हुआ, और वह एक अभागे की भाँति अपने भाग्य को धिक्कारता हुआ, इधर-उधर फिरने लगा। परन्तु प्रयत्न से वह कभी असावधान न रहा। उसने अपने चचा तथा मित्रों की सहायता से कई बार खोई हुई राज्य-सीमा पर पुनः अधिकार करने की चेष्टा की, परन्तु उसे सफलता न मिली। इन असफलताओं के कारण बाबर को दुःख तो बहुत होता था, लेकिन उसके पास निराशा कभी न फटकती थी। अन्त में आशावाद की जीत हुई और बाबर ने १८ वर्ष की आयु में, समरक़न्द को फिर अपने क़ब्ज़े में कर लिया।

इसके बाद भी बाबर पर कितने ही आक्रमण हुए, जिनका उसने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबिला किया। कभी वह विजयी हुआ और कभी पराजय उसके पल्ले पड़ी। अन्त में एक बार फिर उसे समरक़न्द हार कर भयङ्कर मुसीबतों में फँसना पड़ा। उस समय वह जहाँ गया, वहीं विपत्तियों ने उसका पीछा किया। घोड़े से गिर कर तो उसे बड़ी ही तकलीफ़ उठानी पड़ी। कई दिनों तक तो उसे भूखों भी मरना पड़ा। इस प्रकार की यम-यातनाओं से तंग आकर बाबर ने अपने चचा सुलतान महमूद की शरण ली। सुलतान ने बाबर का बड़ी सान्त्वना दी और उसे एक अच्छा इलाक़ा सौंप दिया। इस

जगह बाबर जिस घर में रहता था, उसमें एक बुढ़िया भी रहती थी। यह बुढ़िया बाबर को हिन्दुस्तान की बड़ी-बड़ी बातें सुनाया करती थी। उसने भारतीय वैभव की कहानियाँ अपने एक सम्बन्धी से सुन रक्खी थीं, जो कि तैमूर के साथ भारत गया था। बुढ़िया से हिन्दुस्तान की वैभव-शालिता और विचित्रता का वर्णन सुनकर, बाबर के मुँह में पानी भर आता था और उसके हृदय में इस देश को देखने के लिए बार-बार उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती थी।

बाबर अपनी वर्त्तमान स्थिति से सन्तुष्ट न था। उसके मस्तिष्क में विश्व-विजयी बनने की कल्पना कुलाचें भरती रहती थी, अतएव उसने अपना उद्योग बराबर जारी रक्खा। कभी उस ने किसी से मित्रता की और कभी किसी पर आक्रमण किया। कभी वह विजयी बनकर आगे बढ़ा और कभी पराजय प्राप्त कर पीछे हट गया। निदान इसी प्रकार की उथल-पुथल में उसका सारा जीवन व्यतीत होता रहा। बाबर में संघटन करने की बड़ी शक्ति थी। ऐसे अनेक अवसर आये, जब उसका एक भी साथी न रहा, परन्तु फिर भी उसने विचित्र बुद्धि-कौशल से सैकड़ों-सहस्रों वीरों को अपना अविचल अनुयायी बना लिया। बाबर के इस संघटन का ही प्रभाव था कि, अन्त में वह एक बड़ी शक्ति के रूप में संसार के सामने आया, और उसने थोड़े ही दिनों में काबुल तथा ग़ज़नी जैसी बड़ी सल्तनतों का शासक बन कर दिखला दिया।

बाबर को काबुल में आए अधिक दिन न हुए थे कि, उस की हिन्दुस्तान देखने की पुरानी इच्छा बलवती हो उठी। वह जलालाबाद होता हुआ, पेशावर तक हिन्दुस्तान में आया, और चार मास यहाँ घूम-घाम कर फिर काबुल चला गया। अफ़ग़ानों के घरेलू झगड़ों से तंग आकर बाबर दूसरी बार फिर हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ, और जलालाबाद आगया। जलालाबाद में उसने अपनी सेना चार भागों में विभक्त कर उसे लूट-मार करने के लिए भेज दिया और स्वयं फिर काबुल चला गया। अब की बार उसने काबुल पहुँच कर 'बादशाह' का पद ग्रहण किया, क्योंकि वहाँ के झगड़े बहुत कुछ शान्त हो चुके थे, और बाबर से अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई शासक दिखाई न देता था। बाबर के बादशाह बनने पर, फिर उसकी मुग़ल सेना में विद्रोह उत्पन्न हो गया, जिसे उसने बड़ी कुशलता से शान्त कर दिया। दो साल तक किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हुई, परन्तु कुछ दिनों बाद फिर घरेलू लड़ाइयाँ प्रारम्भ हो गईं, जिन में बाबर को भी भाग लेना पड़ा। प्रायः सभी लड़ाइयों में बाबर की ही विजय हुई, और कितने ही प्रदेश जीत कर उस ने अपनी राज्य-सीमा में मिला लिए। काबुल, ग़ज़नी, समरक़न्द, बुख़ारा, फ़रग़ाना, ताशक़न्द, सील आदि अनेक प्रदेश उसके अधिकार में आ गये। बाबर ने काबुल और ग़ज़नी तो अपने भाई को दे दिये, और स्वयम् समरक़न्द में रहना पसन्द किया, परन्तु समरक़न्द

में शान्ति से बैठना उस के भाग्य में न बदा था। विद्रोहियों ने विप्लव करके फिर बाबर को समरक़न्द छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया, और वह हताश हो कर काबुल चला गया। मिर्ज़ा नसीर ने बाबर के आते ही उस की धरोहर उसे सौंप दी, और वह स्वयं अपने ग़ज़नी के पुराने इलाक़े को रवाना होगया। अब कुछ समय के लिए बाबर को शान्ति मिली, और उसने अपना अधिकतर समय शासन-व्यवस्था ठीक करने तथा जंगली और पहाड़ी जातियों के संघटन में लगाया। बाबर ने अपनी राज-नीति-पटुता से उन विद्रोहियों को भी क़ाबू में कर लिया, जो रात-दिन लूट-मार द्वारा गड़बड़ किया करते थे।

कुछ दिनों बाद बाबर ने पंजाब पर फिर चढ़ाई की और वह स्यालकोट तक बढ़ा, परन्तु काबुल पर आक्रमण होने की ख़बर पाकर तुरन्त वापस लौट गया। अब की बार उस ने कंधार को भी अपनी राज्य-सीमा में मिला लिया। बाबर ने कई बार हिन्दुस्तान पर हमला करने के लिए पंजाब में प्रवेश किया, परन्तु उसे किसी न किसी आवश्यकता के कारण शीघ्र ही काबुल लौट जाना पड़ा। उस का मुख्य उद्देश्य इस देश पर आक्रमण कर, उसकी विभूति अपने अधिकार में कर लेना था, परन्तु ऐसा अवसर ही न आता था। इसमें सन्देह नहीं कि बाबर बड़ा वीर और आशावादी था, उसने हिन्दुस्तान पर हमला करने के विचार को कभी नहीं भुलाया। वह सदैव इसी

धुन में रहा कि कब अवसर मिले और कब मैं भारत के विपुल वैभव से अपना भण्डार भरूँ।

जब से देहली इब्राहीम लोदी के पंजे में पड़ी, तब से उस की बड़ी बुरी दशा थी, लोदी की बर्बरता के कारण प्रजा को बिल्कुल चैन न मिलता था। उस के विरोधियों की संख्या बढ़ती ही जाती थी और स्वयम् सर्दार लोगों की ओर से विद्रोह खड़े किये जाते थे। सुलतान इब्राहीम की शासन-सम्बन्धिनी अयोग्यता प्रायः सब पर विदित हो गई थी, क्योंकि न तो उस में प्रजा का नियन्त्रण करने की शक्ति थी और न वह शत्रुओं का दमन कर सकता था। इब्राहीम की ऐसी अयोग्यता देख कर लोग बड़ी चिन्ता से किसी सुशासक की प्रतीक्षा करने लगे। अन्त में लाहौर के सूबेदार दौलतख़ाँ ने बाबर को काबुल से इसलिए बुलाया कि वह देहली पर अपना अधिकार कर उसे लोदी के पंजे से निकाल ले। महाराणा साँगा ने भी बाबर के पास इस आशय का संदेश भेजा कि यदि वह (बाबर) देहली पर अधिकार कर ले, तो लोदी से आगरा मैं छीन लूँगा। बाबर अनुकूल अवसर देख काबुल से पंजाब के लिए रवाना हुआ, और पंजाब का बहुत-सा भाग उस ने अपने अधिकार में कर लिया। अब वह देहली की ओर बढ़ने वाला ही था कि उसे आवश्यकता-वश फिर काबुल लौट जाना पड़ा।

इस समय देहली में विद्वेष की आँधी ने और भी अधिक ज़ोर पकड़ लिया। भेद-भाव की खाई पहले की अपेक्षा और भी ज़्यादा

चौड़ी हो गई। इस अवसर पर इब्राहीम लोदी के चचा शाहज़ादा अलाउद्दीन के दिमाग़ में एक नई बात समाई। उसने गुप्त रूप से सीधे काबुल पहुँच बाबर से यह शर्त की कि अगर वह उसे देहली का तख़्त हासिल करने में सहायता दे तो उसके बदले में सम्पूर्ण पंजाब पर उसका अधिकार कराया जा सकता है। बाबर ने यह बात मान ली, और उसने पंजाब में नियुक्त अपने सेना-पतियों को आज्ञा दे दी कि वे अलाउद्दीन की सब प्रकार से सहायता करें। अलाउद्दीन बाबर की सेना लेकर देहली की ओर बढ़ा परन्तु बीच ही में परास्त हो गया। फिर कुछ काल पश्चात् बाबर ख़ुद इण्डस नदी को पार कर देहली के लिए रवाना हुआ। प्रारम्भ में बाबर के पास बारह हज़ार सैनिक थे, परन्तु रास्ते में उनकी तादाद सत्तर हज़ार के लगभग हो गई। पानीपत के मैदान में घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर की सेना कट-कट कर लड़ीं, अन्त में सुलतान इब्राहीम लोदी इस लड़ाई में मारा गया और उसकी सेना हार कर भाग गई। विजयश्री बाबर के हाथ लगी। फिर क्या था, बाबर दिल्ली के तख़्त पर बैठा और हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित किया गया।

थोड़े दिनों महाराणा साँगा की प्रतीक्षा करने के पश्चात् बाबर आगरे की तरफ़ बढ़ा, और उसे भी उसने अपने अधिकार में कर लिया। आगरे के समीप बियाना नगर राजनैतिक और सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह नगर महाराणा के अधिकार में था। बियाना का करद

शासक निज़ामख़ाँ बड़ा होशियार परन्तु धूर्त्त था। उसकी हार्दिक इच्छा महाराणा और बाबर में वैमनस्य उत्पन्न करा देने की थी। जब बाबर ने बियाना पर चढ़ाई की तो उसकी सेना को निज़ामख़ाँ ने हरा दिया। परन्तु ज्योंही महाराणा उस ओर बढ़े त्योंही निज़ामख़ाँ ने बियाना बाबर के सुपुर्द कर दिया। बाबर के पास बियाना पहुँचते ही महाराणा की आँखों से ख़ून बरसने लगा। उन्होंने कहा कि बाबर ने ऐसा कर मेरी राज्य-सीमा पर हस्तक्षेप किया है, जिसे मैं किसी दशा में भी सहन नहीं कर सकता। जो हो, अब जिस प्रकार सम्भव होगा, मैं इन तुर्कों को हिन्दुस्तान से निकाल कर ही दम लूँगा। इस प्रकार निज़ामख़ाँ अपनी चाल में सफल हो गया और उसकी हार्दिक अभिलाषा—कि महाराणा साँगा और बाबर दोनों युद्ध में एक दूसरे के सम्मुख हों—पूरी हुई। बाबर का बियाना पर अधिकार कराने के उपलक्ष्य में निज़ामख़ाँ एक बड़ी जागीर पाकर, आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करने लगा।

बादशाह इब्राहीम लोदी के मारे जाने और उसकी सेना के पराजित होने से अफ़ग़ानों की बड़ी दुर्दशा थी, वे बुरी तरह जीवन व्यतीत कर रहे थे। कई स्थानों पर उन्होंने अपना संघटन करने की भी चेष्टा की परन्तु वे उसमें विशेष सफल न हुए। इन लोगों की बड़ी अभिलाषा थी कि बाबर को हिन्दुस्तान से खदेड़ कर देहली पर किसी प्रकार फिर लोदी के वंशधरों का शासन स्थापित किया जाय। उधर महाराणा साँगा भी बाबर की बर्बरता और अनुचित चेष्टाओं से अप्रसन्न थे। उन्हें

यह भी पता लग चुका था कि बाबर लूट-मार कर स्वदेश भाग जाने वाला जीव नहीं, वह तो हिन्दुस्तान में अपना साम्राज्य स्थापति करने के उद्देश्य से आया है। ऐसी दशा में लोदी के वंशधरों ने राणा साँगा की अध्यक्षता में एकत्र होकर, बाबर के विरुद्ध युद्ध करने का निश्चय किया। राणा के सामने उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे उसके अधीन होकर शासन सम्बन्धी कार्य करेंगे। जब बाबर को इस संघटन का पता लगा तो उसने भी जोड़-तोड़ के साथ अपनी गुट्टबन्दी शुरू करदी। उसने कितने ही अफ़ग़ानशासक अपनी ओर मिला लिए, और कितनों ही को प्रलोभन देकर क़ाबू में कर लिया। निदान साँगा और बाबर दोनों अपना-अपना दल बढ़ाने में संलग्न रहने लगे। बाबर ने अपनी कूटनीति का ऐसा जटिल जाल फैलाया कि धौलपुर और ग्वालियर के क़िले भी उसने अफ़ग़ानों से छीन लिए।

अन्तिम युद्ध

१५२७ ई० में बाबर ने आगरे से लड़ाई के लिए कूच किया। वह मार्ग में सेना इकट्ठी करता हुआ, मिढ़ाकुर होकर, फतहपुर-सीकरी पहुँचा। सीकरी में पड़ाव डाल उसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने की उचित व्यवस्था की। उधर से महाराणा साँगा भी अपने दल-बल सहित चित्तौड़ से चल पड़े। राणा की सेना के साथ देहली के भूतपूर्व बादशाह का भाई शाहज़ादा महमूदख़ाँ लोदी भी था। जब बाबर ने सुना कि राणा

रणथम्भोर तक आगया तो, मारे भय के उसके छक्के छूट गए, और राणा के प्रबल पराक्रम का वर्णन सुनकर उसके रोमाञ्च खड़े होने लगे। बाबर अच्छी तरह जानता था कि साँगा वह वीर है, जिसने अपने बाहु-बल से इतनी ख्याति लाभ की है। उसकी तलवार ने उसे सबकी दृष्टि में इतना ऊँचा कर दिया है। फिर अफ़ग़ान लोग उसकी सहायता के लिए तैयार हैं। ऐसी दशा में उससे पार पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह सोच कर बाबर ने राजा सलहदी द्वारा महाराणा के पास सन्धि-सन्देश भेजा, जिसे अस्वीकार कर वह बियाना की ओर बढ़ते ही चले आए। बियाना में मेवात का हसनख़ाँ भी, बाबर के प्रलोभन को ठुकरा कर, अपनी दस हज़ार घुड़सवार सेना सहित राणा से आ मिला। राणा एक दम बियाना पर टूट पड़े और उन्होंने उसे अपने अधिकार में कर लिया। वहाँ से राणा की सेना आगे बढ़ी और उसने बाबर की पहिले से आई हुई सेना को मार कर भगा दिया। बाबर ने दूसरी सेना भेजी परन्तु वह भी बुरी तरह पराजित होकर भाग गई।

राजपूतों की वीरता देखकर, बाबर की सेना एक दम घबरा उठी थी, उसे ऐसे भयङ्कर शत्रु से पहले कभी पाला न पड़ा था। जो राजपूत वीर मेवाड़ की गौरव-रक्षा के लिए अपने शरीरों को गाजर-मूली की तरह रणचण्डी के अर्पण कर सकते हैं, जो रणबाँकुरे युद्ध से पीठ दिखाना भयङ्कर पातक समझते हैं, जिन्हें शत्रु-दल पर सिंह के समान झपटना जन्म से ही सिखाया जाता

है, उन्हें दबा लेना तुर्कों के लिए कोई आसान बात न थी। राजपूतों की वीरता से दशों दिशाएँ गूँज रही थीं। बादशाह बाबर भी अपने इस नए शत्रु के कारण बड़े असमंजस में पड़ सर्वदा चिन्ता युक्त रहने लगा, और उसके मुँह से एक दिन अनायास निकल पड़ा, कि हिन्दुस्तान में जिस लोदी का बड़ा आतङ्क बताया जाता था, वह तो आसानी से सर कर लिया गया, परन्तु महाराणा साँगा, जिसकी कोई चर्चा भी न करता था, बड़ा भयङ्कर शत्रु सिद्ध हो रहा है। उसने पहली ही भिड़न्त में हमें जिस प्रकार पराजित किया है, वह अवश्य ही दुःखदायी और लज्जाजनक है।

प्रतिकूल परिस्थिति देख, बाबर ने फिर महाराणा से सन्धि करने की ठानी। उधर तो सन्धि-चर्चा चलने लगी और इधर समय मिल जाने से बाबर ने अपनी सेना का संघटन प्रारम्भ कर दिया। निराश और निरुत्साह सैनिकों को प्रोत्साहन दिया। उनके टूटे हुए हृदयों में फिर आत्म-विश्वास और वीरता के भाव भरे। तोपख़ानों के लिए खाई खोदी गईं, जिससे आग उगलने वाली विकरालमुखी भयङ्कर तोपों का शत्रु को आसानी से पता न लग सके। इस कार्य में तीन चार सप्ताह लग गये, इतने ही में पहले से चली हुई काबुली सेना भी बाबर की सहायता के लिए आ पहुँची। इस समय बाबर खाइयों में रहते-रहते तंग आगया था, उसे अपने हृदय की विकलता से घोर दुःख हो रहा था। ऐसे दुःख के समय वह अपने जीवन की पिछली घटनाओं

का सिंहावलोकन करने लगा, जिसमें उसे अपने मदिरापान की लत सब से बुरी जान पड़ी। उसने विचार किया कि इस्लाम धर्म के विरुद्ध, मुझे जो यह शराब पीने की आदत पड़ गई है, उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिए। बाबर ने अपने उक्त विचार को शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत किया और शराब पीना सदा के लिए छोड़ दिया। मदिरा-पान में काम आने वाले बोतल-प्याले आदि सब तोड़-फोड़ डाले। अब से बाबर ने इस्लाम का मुख्य चिह्न दाढ़ी रखना भी शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, बाबर के सैकड़ों साथियों ने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की और पक्का मुसलमान बनने का विचार निश्चित किया।

तुर्कों की अवस्था उत्तरोत्तर शोचनीय होती गई। बाबर को अपनी सफलता की सारी आशाओं पर पानी फिरते देख बड़ा दुःख हुआ। वह घबरा गया और व्याकुलता से उचित-अनुचित का विचार त्याग, असम्बद्ध प्रलाप करने लगा। इस समय राजपूतों के आतङ्क से, यवन-सेना पर भय का साम्राज्य स्थापित हो चुका था। सब सिपाही बेर की तरह थर-थर काँप रहे थे। वज़ीरों के भय का ठिकाना न था, वे इतने डरे हुए थे कि वीरता का एक शब्द भी उनके मुँह से न निकलता था, और वे सच्ची सलाह देने में संकोच करते थे। साहस का तो उनमें नाम भी शेष न रहा था। चारों ओर निराशा, निरुत्साह, उदासीनता और कायरता का बोल बाला था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में, बाबर ने कोई चारा चलता न देख, सैनिकों के धार्मिक भाव उभारने के लिए

एक सभा की, जिसमें छोटे-बड़े सभी सर्दार, सिपाही और मन्त्री उपस्थित थे। बाबर ने सब को सम्बोधन करते हुए कहा—

"भाइयो, इस दुनिया-ए-नापायदार में जो आया है, वह एक दिन जायगा भी जरूर। जो पैदा होता है, वह ज़रूर मरता है, यह तो आप सभी जानते हैं। जब मरना हरएक के लिए लाज़िमी है, तो हम चारपाई पर पड़कर क्यों मरें। दीन-ओ-ईमान की हिफ़ाज़त के लिए कोशिश करते हुए, नामवरी के साथ इस सरा-ए-फ़ानी से क्यों न कूच किया जाय? बदनामी के साथ हज़ार साल ज़िन्दा रहने से तो मरना ही बहतर है। यह जिस्म हमेशा न रहेगा, इसलिए इससे दीन-ओ-ईमान के लिए जो कुछ बन सके करते हुए, शोहरत के साथ मरने में ही भलाई है। अगर ख़ुदा की मरज़ी यही है कि हम सब ज़िन्दा न रहें तो उसे कौन रोक सकता है। जो हम लड़ाई में मारे गए, तो दीन इस्लाम के लिए मरेंगे, इस वास्ते ज़रूर बहिश्त मिलेगी। जिस बहिश्त के हासिल करने के लिए लोग सैकड़ों तरह से इबादत व न्याज़-ओ-रियाज़ करते हैं, फिर भी अपनी उम्मीद पूरी करने में नाकामयाब रहते हैं, उस बहिश्त को पाने का कैसा आसान तरीक़ा और नायाब मौक़ा हम लोगों को इस वक़्त मयस्सर हुआ है। इसे अपनी बुज़दिली और काहिली से योंही खो देना कहाँ की इन्सानियत होगी। यारो, हिम्मत करो, इन घास-पात खाने वाले हिन्दुओं पर फ़तह पा लेना तुम्हारे लिए कोई मुश्किल नहीं है। और मान लो अगर किसी वजह से फ़तह न भी नसीब हुई, तो

बहिश्त तो ज़रूर ही मिलेगी। उठो और क़ुरान शरीफ़ की क़सम खाकर वायदा करो कि जीते-जी मैदान-ए-जंग से मुँह न मोड़ेंगे और मरते दम तक दुश्मनों से लड़ते रहेंगे।"

बाबर की यह अपील व्यर्थ न गई। उसके प्रोत्साहन से बीस हज़ार योद्धाओं ने क़ुरान हाथ में लेकर, अन्त समय तक लड़ाई लड़ने की प्रतिज्ञा की। परन्तु इतने पर भी बाबर को विश्वास न हुआ, और वह बराबर सन्देह करता रहा कि राजपूत जैसे प्रबल शत्रुओं के सामने, समर में सफलता प्राप्त करना बड़ा कठिन काम है। यह सोचकर उसने राजा सलहदी द्वारा फिर महाराणा के पास सन्धि-सन्देश भेजा। उसमें लिखा था कि बियाना के पास दोनों नरेश अपने-अपने सीमा-स्तम्भ स्थापित करदें, और बाबर महाराणा साँगा को इस शर्त पर कर दिया करे कि राणा देहली तथा उसके अधीन राज्यों के साथ किसी प्रकार की छेड़-छाड़ न करें। राजा सलहदी की प्रतिष्ठा महाराणा के दरबार में बहुत कम हो चली थी, वह राजपूत-सर्दारों में विशेष आदर के साथ न देखा जाता था। जब वह बाबर का सन्देश लेकर गया तो, महाराणा के सलाहकारों ने उसे ठुकरा दिया। राजा सलहदी को यह बात बहुत बुरी लगी, और वह सोचने लगा कि ऐसी प्रतिष्ठापूर्ण शर्तें केवल इसलिए ठुकराई गई हैं कि संधि कराने के लिए मैं बीच में पड़ा हूँ, नहीं तो कोई कारण नहीं था, जो इस प्रकार के प्रस्तावों की ऐसे भद्दे रूप से उपेक्षा की जाती। इससे अधिक राणा और क्या चाहता

है। चित्तौड़ से वह जिस उद्देश्य की पर्ति के लिए चला था, उसकी अपेक्षा तो इस सन्धि-सन्देश में अधिक ही तत्व था। अच्छी बात है, अब देखना है महाराणा इस युद्ध में किस प्रकार विजयी होकर मेवाड़ लौटता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बाबर ने इस समय बड़ी चालाकी से काम लिया। इधर तो उसने सन्धि के लिए उद्योग जारी रक्खा, उधर वह अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर सैनिकों के निराश हृदयों में साहस भरता रहा। सन्धि सम्बन्धी बातों में अधिक समय लग जाना बाबर के लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ, परन्तु महाराणा की सेना पर इसका उल्टा असर पड़ा। उसमें अनैक्य और असन्तोष के चिह्न दिखाई देने लगे। वह शत्रुओं की बातों में आकर युद्ध स्थगित करने के कारण राणा से अप्रसन्न होगई। फिर भी महाराणा बड़ी चतुराई से सब को समझा-बुझा कर शान्त करते रहे, और उन्हें अवसर की प्रतीक्षा करने का आदेश देते रहे।

अब बाबर को समझौते की कोई आशा न रही, उसने समझ लिया कि आगे भी इस प्रकार का उद्योग करने से कोई लाभ नहीं है। बाबर ने अपने सिपाहियों में मज़हबी जोश भर कर उन्हें बहादुरी के साथ लड़ने के लिए तैयार कर लिया था। एक दिन यवन-सेना अपना पड़ाव छोड़कर बड़े वेग से आगे बढ़ी और युद्ध करने के लिए बुरी तरह व्याकुल होने लगी। कारण कि इस समय बाबर को बड़ी शीघ्रता थी। वह अब एक क्षण

भी व्यथ नष्ट न करना चाहता था, क्योंकि उधर उसके जीते हुए कितने ही स्थानों पर अफ़ग़ानों ने आक्रमण कर दिया था, कई नगर उन्होंने अपने क़ब्जे में भी कर लिए थे। कितनी ही जगहों से बाबर की सेना अफ़ग़ानों द्वारा मार कर भगा दी गई थी। बाबर के कई सूबेदार भी उसके विरुद्ध होगये थे। ऐसी दशा में उसने यही उचित समझा कि वर्त्तमान लड़ाई से निवृत्त होकर, शीघ्र ही दूसरे स्थानों की देखभाल करनी चाहिए। बाबर ने अपने निरीक्षण में बड़ी योग्यता पूर्वक मोर्चाबन्दी की, अनुभवी सेनापति और सर्दार यथास्थान नियुक्त किये गये, जहाँ जैसे सैनिक की आवश्यकता थी वहाँ वैसा ही नियुक्त किया गया। तोपख़ाने और रिसाले की व्यवस्था बड़ी बुद्धिमता पूर्वक हुई। लड़ाई के लिए नई खाइयाँ खोदी गईं। तोपों के मुँह शत्रुओं की ओर कर दिये गये। बाबर ने अपनी सेना मोर्चों पर इस तरह अड़ाई कि उस पर शत्रु का आक्रमण सफल न हो सके, और वह बराबर अपने निश्चित स्थान से उसपर गोले फेंकती रहे।

उधर महाराणा साँगा सेना का संचालन करने में किससे कम थे। इनके पास अपनी सेना तो थी ही, इसके अतिरिक्त भिलसा, रायसेन, डूँगरपुर, चंदेरी, बूँदी, गागरोन, ईडर, मेरटा, जोधपुर, बीकानेर, आम्बेर, देवलिया आदि राज्यों के हज़ारों बीर उनकी फ़ौज में आ मिले थे। कई स्थनों पर महाराणा की सेना का संचालन कितने ही रण-कुशल राजपूत सर्दार कर रहे थे। सुलतान मुहम्मद लोदी भी राणा की सहायता

के लिए, इस युद्ध में उपस्थित हुआ था। प्रत्येक राजपूत, रण-भूमि में शत्रु का रक्तपान करने के लिए व्याकुल हो रहा था। हर एक सिपाही को यही विश्वास था कि बाबर कितनी ही कुशलता क्यों न दिखावे, उसके सिपाही कैसी ही वीरता से क्यों न लड़ें, परन्तु विजयश्री चित्तौड़ के महाराणा को छोड़ कर कहीं नहीं जा सकती। वह निश्चय ही महाराणा के कण्ठ में जय-माल डालेगी और यवन-सेना परास्त हुए विना न रहेगी।

जब दोनों ओर के मोरचे अड़ गये तो, एक दिन प्रातःकाल राजपूत-सेना ने बाबर की फ़ौज पर बड़ी वीरता से आक्रमण कर दिया। यवन सिपाही घबरा कर पीछे भागने लगे, और राजपूत लोग उन्हें खदेड़ते ही चले गए। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। तोपें आग उगलने लगीं, एक दल दूसरे पर विजयी होने के लिए बुरी तरह व्याकुल हो रहा था। हाथियों की चिंघाड़ और घोड़ों की हिनहिनाहट से कान फटे जाते थे। तोपों के धड़ाकों और बन्दूक़ों की आवाज़ों ने प्रलय-सी उपस्थित कर रक्खी थी। दोनों ओर के योद्धा दम तोड़कर लड़ रहे थे, लोथों पर लोथ बिछी हुई थीं, और वीरों के रक्त-प्रवाह से पृथ्वी लथ-पथ हो रही थी। ऐसी भयङ्कर मार-काट के अवसर पर, विश्वासघाती सलहदी के हृदय में नीच भावना का उदय हुआ। उसने समझा कि इस समय महाराणा का साथ छोड़ कर, बाबर की सेना में जा मिलने से तुर्क जीत जायँगे और राजपूतों को पराजित होकर वापस लौट जाना पड़ेगा। हिन्दू-कुल-कलङ्क सलहदी ने

अपनी दुर्भावना को कार्य-रूप में परिणत करके ही दिखा दिया। वह महाराणा का साथ छोड़ कर, पैंतीस हज़ार सैनिकों सहित, बाबर से मिल गया, और उसका सहायक बन राजपूत-सेना से लड़ने लगा। इसी बीच में एक दुर्घटना और होगई, किसी का विषैला बाण हाथी पर बैठे हुए महाराणा के माथे में लगा, जिससे वह घायल होकर अचेत हो गये। सर्दारों ने बेहोश राणा को बड़ी सावधानी से नीचे उतारा और उन्हें पालकी में डालकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया।

राणा के चले जाने पर उनके स्थान की पूर्ति तुरन्त करदी गई। सर्व सम्मति से मेवाड़ का सर्व-श्रेष्ठ सर्दार राजराना अज्जाजी, महाराणा की जगह हाथी के हौदे पर बैठाया गया। अज्जाजी की अध्यक्षता में, कुछ काल तक राजपूत-सेना बड़ी वीरता से लड़ती रही, परन्तु ज्यों ही उसने सुना कि महाराणा साँगा घायल होने के कारण हाथी पर से हटा दिये हैं, त्यों ही उसमें चारों ओर निराशा छागई और राजपूत सैनिकों का सुदृढ़ संगठन ढीला पड़ने लगा। महाराणा साँगा के नेतृत्व से वंचित होकर कितनी ही सेनाएँ तो युद्ध-भूमि छोड़ कर अपने स्थानों को चली गईं। महाराणा की छत्र-छाया ऊपर से हटते ही, राजपूतों में पहले का-सा साहस और शौर्य न रहा। इसके अतिरिक्त महाराणा साँगा की सेना के बड़े-बड़े सब सेनापति अपना प्रबल पराक्रम दिखाते हुए, सदा के लिए समरांगण में सो गये। रावल उदयसिंह, रावत रतनसिंह, राजराणा अजी, राठौर रायमल आदि बड़े-बड़े

महारथी इस युद्ध में काम आगए और जीत बाबर के हाथ लगी, जिसके कारण वह 'ग़ाज़ी' कहलाया।

अवसान

अचेत महाराणा एक पालकी में डाल कर बसवा नामक स्थान पर पहुँचाए गए। थोड़ी देर बाद होश हुआ तो, उन्होंने बड़ी उत्सुकता पूर्वक लड़ाई का समाचार जानना चाहा। जब राणा ने राजपूतों के हारने का समाचार सुना, तो उनके दुःख का ठिकाना न रहा। वह उन लोगों से बड़े अप्रसन्न हुए, जो उन्हें अचेतनावस्था में रण-क्षेत्र से वहाँ ले आए थे। इस समय राणा ने अपनी पराजय पर पश्चात्ताप करते हुए बड़े विषाद-पूर्वक कहा—

"हा! तुम लोगों ने मुझे यहाँ लाकर बड़ा अनर्थ किया, अब संसार यह कहे विना न रहेगा कि साँगा युद्ध-भूमि से पीठ दिखा कर भाग गया। हे भगवान्! मैं इस अपवाद को कैसे सहन कर सकूँगा! मैं निर्दोष हूँ, निरपराध हूँ, मैंने युद्ध से भागने का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं किया। मैं तो इस जीवन की अपेक्षा युद्ध में शत्रुओं के हाथ से मारा जाना अच्छा समझता। बेहोशी की हालत में मुझे लड़ाई से यहाँ लाकर मेरे साथ न्याय नहीं किया गया, इसके लिए मैं किसी को धन्यवाद नहीं दे सकता। इस प्रकार मेरे प्राणों की रक्षा कर, मेरे साथियों ने मुझे घोर अपमान पूर्वक जीवन बिताने के लिए विवश किया है। क्या ही अच्छा होता, जब संसार सुनता कि साँगा देश की

रक्षा करता हुआ शत्रु की तलवार से मारा गया ! दुश्मन की कोपाग्नि में उसका शरीर भस्म हो गया । इस जीवन से वह मृत्यु बड़ी महत्त्व-पूर्ण होती । अच्छी बात है, जो हुआ सो हुआ, अब मैं चित्तौड़ की ओर मुँह भी न करूँगा । जब तक बाबर पराजित न हो जायगा, तब तक यह अधम शरीर चित्तौड़ नहीं जा सकता । चित्तौड़ का राज-सिंहासन उन वीर विजेताओं के लिए है, जो शत्रु का संहार करके अपनी विजय-दुन्दुभि बजाते हुए उसका गौरव बढ़ाते हैं । मैं नहीं समझता, हारा हुआ साँगा उस सिंहासन की ओर बढ़ने का कैसे साहस करेगा । चित्तौड़ की वीर-भूमि अपने इस पराजित प्रजेश का स्वागत करने के लिए कैसे तैयार होगी ! हा ! अब मैं क्या कहकर लोगों को अपनी इस पराजय का कारण बताऊँगा। उफ़ ! कुछ भी हो, अब मैं चित्तौड़ कदापि नहीं जा सकता, यहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूँगा ।"

घाव अच्छे हो जाने पर साँगाजी अपनी इच्छा से रण-थम्भोर के महल में रहने लगे। महल के बाहर न वह कभी निकलते और न कहीं आते-जाते थे । हर समय उनके ऊपर निराशा और मन्द-मनोरथता का प्रभाव बना रहता था । वह न किसी से मिलते थे, और न विशेष बात-चीत करते थे। उन पर पराजय की लज्जा बुरी तरह सवार थी। उनका सारा समय जीवन की घड़ियाँ गिनने में व्यतीय होता था । किसी की हिम्मत न थी जो राणा को समझाता-बुझाता या उन्हें

कर्त्तव्य कर्म की ओर प्रेरित करता। राणा की ऐसी निराशा-जनक दशा देखकर सब लोग मन ही मन दुःखी थे। वे उन्हें क्षण-भर के लिए भी प्रसन्न वदन न पाते थे। खान-पान में भी राणा को बड़ी अरुचि हो गई थी। एक प्रकार से उन्हें अपना जीवन भार-भूत हो रहा था। राणा की कड़ी आज्ञा थी कि कोई व्यक्ति उनसे मिलने के लिए न आने दिया जाय। अगर कोई कभी महलों में पहुँच भी जाता तो, वह उससे वार्त्तालाप न करते थे। ऐसी दशा देख, टोडरमल नामक चारण से न रहा गया। वह एक दिन महाराणा की ड्योढ़ियों पर उपस्थित हुआ और उसने उनसे मिलने के लिए इच्छा प्रकट की, परन्तु द्वारपालों ने उसे भीतर न घुसने दिया। बेचारे ने बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु सब व्यर्थ! अन्त में चारण ने राणा की ड्योढ़ियों पर धरना दे दिया, और प्रतिज्ञा की कि जब तक राणा से भेंट न होगी, अन्न-जल ग्रहण न करूँगा। इस प्रकार चारण को उपवास किए तीन दिन-रात बीत गये। अन्त में महाराणा के मन्त्रियों ने यह सोच कर कि कहीं यह अपरिचित पुरुष भूखा न मर जाय, उसे महलों में जाने की आज्ञा दे दी।

चारण ने राणा के आगे उपस्थित हो बड़े ओज-पूर्ण स्वर में कविता पढ़नी शुरू की, जिसे सुनकर राणा मन्त्र-मुग्ध-से रह गए। उनकी सारी निराशा जाती रही। बाबर की वर्बरता ने राणा पर जो बुरा प्रभाव डाला था, वह चारण की चार पंक्तियों ने बिलकुल दूर कर दिया। उस उत्तेजना-पूर्ण और

उत्साह-वर्धक कविता से, महाराणा के निराश हृदय में फिर एक बार आशा का संचार हो गया। उनका टूटा हुआ हृदय फिर उत्साह से भर गया और शरीर में जोश की ज्वाला जलने लगी। आवेश की अग्नि उबल पड़ी और एक बार फिर राणा साँगा ने रण-क्षेत्र में उतरने का निश्चय कर लिया। राणा के हृदय से उत्साह-हीनता, शिथिलता और निराशा का प्रभाव जाता रहा और उन्होंने फिर कर्ममय जीवन बिताने की तैयारी कर दी। उन्होंने सब से प्रथम सदाशा का शुभ सन्देश सुनाने वाले चारण को जागीर देकर पुरस्कृत किया, और उसे इस प्रोत्साहन के लिए अनेक बार धन्यवाद दिया। महाराणा साँगा का कार्य-क्रम, बाबर को पराजित करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता था। इस से बढ़कर उनके जीवन का अब और उद्देश्य ही क्या रह गया था। बर्बर बाबर को विजयी देख साँगा की आखों से ख़ून उतरता था और अब वह हर समय उसे हराने की ही घात में रहते थे।

टोडरमल चारण ने राणा साँगा को जो कविता सुनाई थी, वह नीचे उद्धृत की जाती है:—

सतवार जरासिंध आगल श्रीरंग
विमहा टीकम दीध बग
मेलिघात मारे मधुसूदन
असुर घात नारवे अलग ॥ १ ॥

पारथ हेकरसाँ हथणापुर
हटियों त्रिया पडंता हाथ
देख जका दुरजोधन कीधी
पछतका कीधी काँई पाथ ॥ २ ॥
इकराँ राम तणी तिय रावण,
मन्द हरेगो दह कमल ॥
टीकम सोहिज पथर तारिया
जगनायक ऊपरा जल ॥ ३ ॥
एक राड़ भव माँह अवत्थी,
ओरस आणे केम ऊठ
मालतरण के वा कज माँगा
साँगा तू सालै असुर ॥ ४ ॥

कविवर टोडरमल कहते हैं–"आखिर इस निराशा का कारण क्या है ? जरासन्ध के मुक़ाबिले में स्वयम् श्रीकृष्ण को सैकड़ों बार युद्ध से पीठ दिखा कर भागना पड़ा था, परन्तु अन्त में, उन्होंने आत्म-रक्षा करते हुए अपने शत्रु को परास्त किया। एक बार जब दुर्योधन ने द्रौपदी पर अपना हाथ डाला, तो अर्जुन को पीछे हट जाना पड़ा, किन्तु पीछे अर्जुन ने दुर्योधन को जैसा मज़ा चखाया उसे सारा संसार जानता है। यह ठीक है कि एक बार दुष्ट दशानन सीता को चुरा ले गया, परन्तु रामचन्द्र ने समुद्र का सेतु बाँध कर उसे उसकी करनी का कैसा फल चखाया ! राणाजी, आप तो इस एक ही हार से

इतने निराश हो गये! सावधान हो कर्त्तव्य-पालन कीजिए, उठिए और अपने स्वरूप को पहँचानिए। आप तो शत्रुओं की आखों में काँटे की तरह खटकने के लिए ही पैदा हुए हैं। अगर आप ऐसी निराशा और उदासीनता दिखावेंगे, तो काम कैसे चलेगा।

चारण की उत्तेजना-पूर्ण कविता सुन कर, महाराणा ने फिर बाबर के दाँत खट्टे करने की प्रतिज्ञा की। उधर बाबर को भी हिन्दुस्तान में अपने सब से प्रबल शत्रु, राजपूत ही दिखाई देते थे। यद्यपि राजपूत लोग अभी एक बड़ी लड़ाई में लड़ कर पराजित हो चुके थे, परन्तु फिर भी उनका उष्णोत्साह ठंडा न हुआ था। वे अपने को एक क्षण के लिए भी हारा हुआ मानने के लिए तैयार न थे। बाबर को राजपूतों की यह बात अच्छी न लगती थी, इसीलिए उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि सब से पहले इन राजपूतों को छिन्न-भिन्न कर, उन्हें सदा-सर्वदा के लिए शक्तिहीन कर देना चाहिए, जिस से वे लोग फिर कभी सिर न उठा सकें। यह सोच कर अबकी बार बाबर ने चंदेरी के राजा मेदिनीराय पर आक्रमण करने के लिए कूच किया। मेदिनीराय राणा का दाहिना हाथ था। राणा उसका बाल भी बाँका होते हुए न देख सकते थे। बाबर अपने दल-बल सहित कालपी होता हुआ, चंदेरी पहुँचा। जब साँगा ने सुना कि बाबर चंदेरी पर हमला करने वाला है, तो, वह भी अपनी सेना लेकर, इरिच नामक स्थान पर जा डटे। राणा युद्ध के लिए बिल्कुल

तैयार थे, परन्तु उन के मन्त्री लड़ना न चाहते थे, वे समझते थे कि इस समय बाबर की उपेक्षा करजाने में ही भलाई है। उधर महाराणा युद्ध के लिए तुले हुए थे, वे अपने निश्चय के विरुद्ध किसी की बात सुनना न चाहते थे। राणा का ऐसा हठ देख, सचिवों से न रहा गया, और उन्होंने एक षड्यन्त्र रच कर राणा को विष दे दिया।

महाराणा बड़े वीर और सहिष्णु थे। वह विष खाकर भी थोड़ी देर बड़ी बहादुरी से लड़ते रहे। अन्त में ज़हर अपना प्रभाव दिखाये बिना न रहा। राणा के पाँव लड़खड़ाने लगे, जीभ टूट गई, शरीर शिथिल हो गया और आँखें पथराने लगीं। थोड़ी ही देर में, सबके देखते-देखते उस महावीर के प्राण-पखेरू शरीर-पञ्जर से प्रयाण कर गये! मेवाड़—नहीं-नहीं—भारत का निर्भय वीर, अपनी वीरता की विजय-दुन्दुभि बजाता हुआ सदा के लिए सो गया! महाराणा का जीवन बड़ा ही प्रताप-पूर्ण और गौरव-मय था। जब तक इतिहास के पृष्ठों पर मेवाड़ की महिमा मौजूद है, तब तक राणा साँगा का अमर नाम सर्वश्रेष्ठ राजपूत महारथियों में परिगणित होता रहेगा। महाराणा स्वर्ग सिधार गये, परन्तु अपनी वीरता द्वारा हिन्दुओं का मस्तक ऊँचा कर गये। भारत वसुन्धरा धन्य है, जिसने अपने गर्भ से ऐसे-ऐसे नर-रत्नों को जन्म देकर, आर्य-जाति का मुख उज्ज्वल किया।

१५८४ वि० में, बाबर को पराजित करने के उद्योग में महाराणा ने अपनी मानव-लीला संवरण की। उन्होंने प्रायः २१ वर्ष राज्य किया। महाराणा साधारण डील-डौल के बड़े ही पराक्रमी पुरुष थे। राणा साँगा का रंग गोरा और शारीरिक संघटन बड़ा ही सुन्दर तथा सुडौल था। उनकी एक आँख अपने भाई पृथ्वीराज से और एक भुजा देहली के बादशाह लोदी से लड़ते समय नष्ट हो गई थी। एक युद्ध में उनकी टाँग पर प्रहार होने से लँगड़ाहट भी आ गई थी। अभिप्राय यह कि एक वीर को अपने जीवन में बहादुरी के जो चिह्न धारण करने चाहिएँ, प्रायः वे सभी राणा साँगा के शरीर पर दिखाई देते थे।

